नाटक और रंगमंच विमर्श

इस पुस्तक में प्रकाशित लेखों में अभिव्यक्त विचार इसके लेखकों के अपने विचार हैं। इनसे सम्पादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

नाटक और रंगमंच विमर्श

संपादक

प्रियंका मिश्र

हिन्दी विभाग, गार्गी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

साहित्य संचय

सोनिया विहार, दिल्ली-94

ISBN : 978-9382597-17-9

प्रकाशक

साहित्य संचय

बी-1050, गली नं. 14/15,
पहला पुस्ता, सोनिया विहार, दिल्ली-94
फोन नं. : 09871418244, 09136175560

प्रथम संस्करण : नवम्बर, 2013
आवरण : पूर्वा कम्यूनिकेशन्स
मूल्य : ₹ 250/-

'Natak aur Rangmanch Vimarsh' Edited by PRIYANKA MISHRA

साहित्य संचय, बी-1050, गली नं. 14/15, पहला पुस्ता, सोनिया विहार, दिल्ली-94 से **मनोज कुमार** द्वारा प्रकाशित, आवरण सज्जा **धीरज कुमार** तथा **मलिक इन्टरप्राइजेज**, दिल्ली द्वारा मुद्रित।

अपने माता-पिता को
जिन्होंने मुझे
सिखायीं
ज़िन्दगी के रंगमंच की बारीकियाँ
और
गुरुवर
प्रो. रमेश गौतम को
जिनसे सीखा
ज़िन्दगी के संघर्षों में
अपने व्यक्तित्व को बनाए रखना।



न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
ना सा योगो न तत्कर्म नाट्ये स्मिन् यन्नदृश्ते।।

"कोई ज्ञान, कोई शिल्प, कोई विद्या, कोई कला, कोई योग तथा कोई कर्म ऐसा नहीं है, जो 'नाट्य' में दिखाई नहीं देता हो।"

-

नाट्यानुभूति और रंगानुभूति का अंतर्विरोध

जिस तरह व्यक्ति और जीवन एक-दूसरे के पर्याय हैं उसी तरह नाटक और रंगमंच की सार्थकता भी एक-दूसरे पर आधृत है। कहा जाता है कि ब्रह्मा जी ने चारों वेदों और चारों उपवेदों का स्मरण करके उनसे आठ गुणों को प्राप्त किया। उन आठ गुणों से ही उन्होंने पाँचवें वेद के रूप में 'नाट्य वेद' की सृष्टि की। इसकी सृष्टि के उपरान्त ब्रह्मा जी ने यह भी कहा कि नाट्य 'यज्ञ' के समान फल देने वाला होगा और पूजा की भांति पवित्र होगा। यही कारण है कि साहित्य में नाटक लेखन के लिए भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र का निर्माण किया।

एक साहित्यिक विधा होने के कारण नाट्यकला को रचनाकार की अनुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में मान्यता मिली। संस्कृत साहित्य में नाट्यकला को समस्त कलाओं में श्रेष्ठ स्वीकार किया गया। इस संदर्भ में कहा गया कि *'अनुभव की गहराई जो प्रवाहित अन्तहीन समय से उपजी है और अभिव्यक्ति जो उस अनुभूति की रचनात्मक प्रस्तुति है, आंतरिक संगीतात्मक स्वर-संगति में समस्त कलाओं में श्रेष्ठ बन जाती है।'* यह मानवीय अनुभूतियों के द्वारा मानव जीवन के औदात्य को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम बन जाती है।

किन्तु नाटक को एक रचनात्मक कला स्वीकार कर लेने से ही उसका औत्कर्ष्य सिद्ध नहीं हो जाता और न ही नाट्यशास्त्र रचनाकार को सृजनात्मकता सिखाता है जिससे वह किसी नाटक की सहजता से रचना कर पाने में समर्थ होता है। नाटककार अपने समय और समाज की गतिशील जीवनधारा में स्थिर-संवेदनाओं के संघर्ष को अनुभूत करते हुए अभिव्यक्ति के स्तर पर लाता है। समय का प्रवाह उसे निरंतर उद्वेलित

करता है और उस उद्वेलन के परिणामस्वरूप ही वह जीवन की जटिलताओं का गतिशील और सजीव चित्रांकन करता है। वह भी ऐसा चित्रांकन की शब्दों के भीतर से जीवन की छाया निरन्तर बाहर झलकती रहती है। इस अभिव्यक्ति को ही पाठक अनुभूत करते हुए अपने मस्तिष्क में निर्मित होते हुए देखता है।

नाटक जीवन की जटिलताओं को कलात्मक रूप प्रदान करता है लेकिन उन जटिलताओं में व्याप्त द्वंद्व और संघर्ष का उद्वेलन पाठक को नाटककार की अनुभूति के समानान्तर यथावत् रूप से स्पंदित कर पाता हो, यह सम्भव नहीं। इसीलिए नाटक की सार्थकता रंगमंच पर आकर ही होती है।

रंगमंच एक प्रयोगधर्मी कला है। लेकिन वह केवल कला नहीं है वरन् मनुष्य की अभिव्यक्ति का ऐसा माध्यम है जो 'रचनाकार की आंतरिक चेतना तथा सर्जनात्मकता' और 'निर्देशक तथा अभिनेता की रंगानुभूति के अंतर्विरोध' से उत्पन्न हुआ है। जहाँ नाट्यानुभूति के स्तर पर नाटककार की समाज को देखने की सौन्दर्यदृष्टि और उसे अभिव्यक्त करने की सृजनशील कलात्मकता का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है। ऐसे में उस नाटक में विद्यमान संवेदनाओं की सार्थक प्रस्तुति के लिए निर्देशक को विभिन्न संसाधनों और नाटक के पाठ में अपेक्षित परिवर्तन का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे में नाट्यानुभूति और रंगानुभूति का अंतर्विरोध ही संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का नया दृष्टिकोण उभारता है जो रंगमंच पर ही सम्भव हो पाता है।

वास्तव में नाटक और रंगमंच को लेकर मुख्य रूप से दो प्रश्न उभरते रहे हैं। एक प्रश्न तो नाटक को साहित्यिक रचना मानते हुए नाटककार को उसके लेखन की स्वतंत्रता का है कि क्या नाटककार रंगमंचीय बंधनों से मुक्त होकर नाटक की रचना करे? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या नाटककार बदलते हुए समय और परिवेश के अनुसार नाटक की रंगमंचीय आवश्यकताओं और रूढ़ परम्पराओं को स्वीकार करते हुए नाटक का लेखन करे? वर्तमान दौर में रंगमंच की विराटता और समारोहीय रूप को दृष्टिगत रखते हुए ये प्रश्न आज पुनः प्रासंगिक हो उठे हैं।

इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मत रखे हैं। विशेष

रूप से लब्धप्रतिष्ठित नाटक लेखक एवं आलोचक डॉ. नरेन्द्र मोहन ने अपने विचारों द्वारा नाटक और रंगमंच की सम्बद्धता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है– *"नाटक और रंगमंच एक दूसरे के साथ इतने संश्लिष्ट और गहरे रूप से सम्बद्ध हैं कि उन्हें अलग-अलग रखकर देखा-पहचाना नहीं जा सकता। नाट्यालेख नाटकीय शब्द का मूर्त रूप है। इसे रंगकर्म से स्पंदित आलेख भी कह सकते हैं। नाटक से रंग-कर्म तक यह स्पंदन आन्तरिक लय की तरह व्याप्त रहता है। नाटक रचना की यह जान है और प्रस्तुति में इसे पकड़ने के लिए निर्देशक और अभिनेता जी-जान से जुटते हैं। रंग-कर्म का पूरा ताम-झाम इस अमूर्त से स्पंदन को मूर्त करने की प्रक्रिया ही तो है। गति और दृश्य इसके बूते शब्द का हिस्सा बनते हैं और प्रस्तुति में आकार ग्रहण करते हैं। नाटक की अवधारणा के मूल में यही स्पंदन है। इसके बिना नाट्याकृति बेजान और रंगकला अधूरी है।"*

इस प्रकार स्पष्ट है कि आज के समय में नाटक और रंगमंच की एकांगी कल्पना करना ही असम्भव है और वह भी तब जब सामाजिक जीवन में विसंगतियाँ और कुण्ठायें शब्दों के परे मौन से अधिक मुखर हो पाती हैं। इसलिए असंदिग्ध रूप से नाटक की सार्थकता मंच पर ही है और वह तभी पूर्णता प्राप्त करता है जब नाटक लेखक और निर्देशक के मध्य परस्पर संवाद कायम रहे ताकि नाटक का विचार और निर्देशक की कलात्मकता, दोनों को ही पराकाष्ठा तक पहुँचने का अवसर मिल सके।

इस पुस्तक में प्रकाशित लेख उपर्युक्त विचारों पर ही केन्द्रित हैं। ये लेख किन्हीं स्थापनाओं या सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमानों के पक्षधर या विरोधी नहीं हैं बल्कि परम्परागत और आधुनिक समाज में विद्यमान साहित्य के नवीन विचारों को उभारते हैं जो नाटक और रंगमंच के अन्तर्सम्बन्धों को अधिक पुष्ट करते हैं।

17 नवम्बर, 2013
कार्तिक पूर्णिमा

प्रियंका मिश्र
priyadarshnimishra85@gmail.com

चाहे भरतमुनि हों, अरस्तु हों या ज़ियामी हों, ये जितने भी कला के गुरु रहे हैं, इन्होंने कला को बहुत करीब से जाना है। मनुष्य की जीवनगाथा में जो भी है, जैसे चरित्र हैं या अन्य चीज़ें हैं, उस सबके बारे में उन्होंने सोचा है कि कहाँ तक वह उसे अभिव्यक्त करेगा या कर सकता है। सौन्दर्य के मापदण्ड क्या हैं? इन सबको उन्होंने जाना, परखा और लिखा है। अगर आप आज ऐसा कुछ लिख सकते हैं, आप भी लिख लीजिए। जो इन लोगों ने लिखा है उसमें यह कहीं नहीं है कि यही करना चाहिए, यही सबसे शुद्ध है। इन्होंने केवल इतना कहा है कि आपको अपने प्रदर्शन की तकनीकी को परिष्कृत करने के लिए क्या करना चाहिए, अंगों में परिष्कार लाने के लिए क्या करना चाहिए, मानवीय संवेदना को आप किस तरह अभिव्यक्त करेंगे, उसका ढंग क्या हो सकता है? रस क्या होता है, यब सब कहा .... इन सारी चीज़ों को छोड़कर कोई प्रयोगधर्मी कला नहीं हो सकती।

– रतन थियम

अनुक्रम

नाटक : साहित्यिक या रंगमंचीय

रंजन पाण्डेय

नाटक विधा के उद्‌भव काल से ही नाटक ओर रंगमंच की परस्पर आत्मनिर्भरता पर नाटककार, निर्देशक और नाट्य समीक्षकों ने गम्भीरता से विचार किया है। इस बात पर प्राय: मतैक्य रहा है कि रंगमंच के बिना नाटक की प्रासंगिकता, सार्थकता, कलात्मकता सम्भव नहीं है। रंगमंच और नाटक एक-दूसरे को प्राणवत्ता प्रदान करते हैं। यही कारण है कि नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को बार-बार उद्धृत किया जाता रहा है।

नाटक और रंगमंच की प्रमुख विशेषता उनमें विद्यमान सृजनशील स्थितियों का अन्वेषण है। यह स्थिति ही इस विधा को अन्य साहित्यिक विधाओं से अलग करती है। नाटक लेखन, उसका निर्देशक द्वारा प्रस्तुतीकरण तथा प्रस्तुत नाटक का दर्शक द्वारा प्रेक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जो नाटक को कलात्मकता प्रदान करके उसकी त्रि-आयामी विधा को सिद्ध करती है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि नाटककार, निर्देशक और दर्शक के काव्यानुभवों के बीच एक सामन्जस्यपूर्ण समन्वय कायम हो। जहाँ एक ओर नाटककार कृति से सृजनात्मक अनुभूति प्राप्त करता है, तो दूसरी ओर निर्देशक उसके प्रस्तुतीकरण से अभिनयाभिव्यक्ति अनुभव करता है और इन दो प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ नाटक दर्शक के लिए भावानुभूति से आत्मसाक्षात्कार का माध्यम बनता है। अत:

नाटक एक वस्तु है और रंगमंच उस वस्तु को प्रकट करने की दूसरी माध्यम वस्तु है। नाटक रंगमंच का आधार प्राप्त करके एक प्रकार से पुनर्सृजन और पुनर्निमित की ओर प्रस्थान करता है, परिणाम यह होता है कि नाटक की सम्प्रेषणीयता उत्तरोत्तर वृद्धि पाती है। जहाँ एक ओर नाटक श्रव्यकाव्य के तत्वों को लिए हुए है वहीं दूसरी ओर वह दृश्यकाव्य की शक्तियों और सम्भावनाओं का समाहार भी करता है। नाट्यानुभूति अपनी विशिष्ट 'प्रकृति' और 'गति' के कारण अन्य अनुभूतियों से अलगायी जा सकती है क्योंकि नाटक रंगमंच के साथ मिलकर एक विशिष्ट प्रकार की संवेदनीयता और संप्रेषणीयता का सृजन करता है। 'काव्युषे नाटकं रम्यम्' उपर्युक्त विशिष्टताओं के कारण ही कहा जाता है।

मानव जीवन में कला एक विशिष्ट स्थान धारण करती है। कलाएं विशेषत: अपनी रचनात्मक अभिव्यक्तियों में समाज के किसी भी जाति के सामुदायिक आदर्शों, आकांक्षाओं और मूल्यों को प्रस्फुटित करती रही हैं। जहां एक ओर वे मनोरंजन का साधन हैं तो दूसरी ओर व्यक्ति और जाति की संवेदनाओं का परिष्कार और शोधन भी करता हैं। इसलिए कलाओं के द्वारा किया गया सृजन कार्य सामूहिक चेतना का सर्वोत्तम अंश बनकर उभरता है। "नाटक और रंगमंच कलात्मक अभिव्यक्ति का विशेष द्वार है, जिसमें अन्त:वृत्तियों का परितोष अन्य कलाओं से अधिक होता है।"[1] कलाओं में नाटक की व्यापकता सर्वसिद्ध है। भरतमुनि का इस संदर्भ में कहना है कि "ऐसा न कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न कला है, न विधा है, न योग है, न कर्म है, जो इस नाट्य में न देखा जाता हो।"[2]

वर्तमान दौर में नाटक से तात्पर्य ऐसे लेखन से है जो वर्तमान जीवन के वस्तुपरक तथ्यों तथा साक्षात् जीवन संदर्भों से जुड़े तथा उसकी गहराइयों से भी सम्बन्धित हो। अब प्रश्न है कि क्या साहित्य में ऐसा नहीं होता? इसका उत्तर है कि हां! साहित्य में भी यही उद्देश्य है। परन्तु नाटक और अन्य कथा-साहित्य में एक सूक्ष्म अन्तर है कि नाटक में जीवन के वस्तुपरक और आत्मपरक सत्य मंच पर प्रस्तुत होने के उद्देश्य

से निर्मित होते हैं जबकि अन्य कथा-साहित्य में वही मात्र पाठ्य के उद्देश्य से निर्मिति पाते हैं। इसके अलावा नाटक की मूलभूत प्रकृति ऐसी है जो उसे साहित्यिक रचना सिद्ध करती है, साथ ही उसे अन्य विधाओं से वैशिष्ट्यता भी प्रदान करती है। कथा-साहित्य जहां एक ओर अतीत की घटनाओं को प्रस्तुत करता है वहीं नाटक में कोई भी घटना या प्रसंग पाठक या दर्शक के सामने ही घटता है। कथा-साहित्य का लेखक की अतीतजीविता के बरक्स नाटककार का लेखक पाठक या दर्शक को नाटक की कथा या घटना या प्रसंग के प्रवाह में सदैव वर्तमान की नैरन्तर्यता को बरकरार रखता है और पाठक हर प्रसंग को सद्य: घटित महसूस करता है। इस प्रकार नाटक अपने पाठ्य रूप में साहित्यिक विधाओं से भिन्न एक विशिष्ट साहित्यिक विधा है।

नाटक एक साहित्यिक अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो केवल साहित्य मात्र नहीं है। उसकी यात्रा यहां पर केवल आधी है। नाटककार द्वारा नाटक का लिख दिया जाना ही अन्तिम उत्पाद नहीं है बल्कि नाटक का वास्तविक और अंतिम प्रस्फुटन और सम्प्रेषण निर्देशक और अभिनेता के मेल से रंगमंच पर होता है। नाटक के पात्र और प्रसंग तब तक मृत ही माने जाएंगे जब तक कि रंगमंच पर अभिनेता द्वारा उनमें प्राण प्रतिष्ठा न हो। "संसार के नाट्य साहित्य के इतिहास में कहीं भी नाटक को रंगमंच से अलग करके, केवल साहित्य रचना के रूप में नहीं देखा जाता और रंगमंच तथा उसकी आवश्यकताओं के पारखी ही नाटक के असली समालोचक होते हैं और माने जाते हैं।"[3] अत: स्पष्ट है कि नाटक को पाठ्य-पुस्तक नहीं माना जा सकता जैसा कि उपन्यास, जो पाठकों से सीधे सम्बन्धित हो। नाटक दरअसल अपने सम्पूर्ण रूप में एक जीवन्त अनुभव है। जो कि अपनी जीवन्तता रंगमंच पर प्राप्त करता है। यही कारण है कि विद्वान नाटक की सही कसौटी रंगमंच मानते हैं। रंगमंच को नाटक का निकष मानकर ही उसकी सम्भावनाओं की खोज संभव है। "नाट्य कृति और रंगमंच एक दूसरे के कार्य और कारण है, दूसरे स्तर पर एक दूसरे के पूरक और यहां तक कि एक दूसरे के पर्याय भी।"[4]

उपरोक्त संदर्भ में यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि नाटक की कसौटी रंगमंच बताते हुए यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि रंगमंच ही नाटक की एकमात्र कसौटी है या वह खालिस रंगमंच ही है। नाटक में केवल रंगमंचीयता का आग्रह करना, अभिनेयता का आग्रह करना भ्रामक है। दरअसल नाटक न केवल साहित्य है और न केवल रंगमंचीय कला। नाटक साहित्य और रंगमंचीय कला का समन्वय है। नाटक जैसी कृति रचनाकार-निर्देशक-अभिनेता-दर्शक से होती हुई पूरी परिस्थितियों और रंगकर्मियों से गुजरकर अपनी विशिष्टता, मौलिकता, जटिलता को सामने ला पाती है। यही कारण है कि कभी-कभी नाटक पढ़ने पर वह आनन्द नहीं देता जितना मंचन होने पर। वहीं कभी-कभी नाटक मंचित होते ही प्राणवत्ता खो देता है। अतः नाटक और रंगमंच एक सामूहिक संश्लेषणात्मक सम्बन्ध की अपेक्षा करते हैं जहां विशेष संतुलन अपेक्षित है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पहले ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने नाटक के विधागत अन्तर को समझा, परखा और बखूबी इस्तेमाल किया। उनसे पूर्व भी हिन्दी क्षेत्र में लोक-नाटकों या लोक रंगमंच की परम्परा विद्यमान थी परन्तु उनकी अपनी सीमाएं थीं। वे केवल मनोरंजन का साधन कहे जा सकते थे। उन्होंने जन समूह के मूल्यों को परिष्कृत या परिवर्धित करने का काम बहुत कम ही किया। इसी बीच पारसी रंगमंच व्यवसायिक दृष्टि को अपनाते हुए सस्ती लोकप्रियता के नये-नये कीर्तिमान छू रहा था। कुरूचिपूर्ण सस्ते लेखन, अधकचरी मानसिकता के साथ प्रस्तुत होने वाला यह पारसी रंगमंच बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों के लिए एक उपेक्षणीय वस्तु बन गया। परिणाम यह हुआ कि 'रंगमंच' ने स्वयं अपना सारा अर्थ खो दिया। नाटककारों ने आरम्भ से ही रंगमंच से दूरी बना ली। लक्ष्मी नारायण लाल के अनुसार – "हिन्दी रंगमंच जिसका पहला और अत्यन्त महत्वपूर्ण उदय भारतेन्दु काल में हुआ, दूसरा विकास 'प्रसाद' काल में और अन्ततः पर्यावसान चौथे दशक के आस-पास हो गया; यह पूरी रंगयात्रा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ढंग से पारसी थियेटर के प्रभाव और उससे प्रतिक्रिया का दस्तावेज है।"[5] इस प्रतिक्रियात्मक दृष्टि ने जहां नाटक को साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध बनाया वहां रंगमंच से, उसकी 'कलात्मक मौलिकता' से उसे एकदम अलगा दिया। नाटक दो खानों में बँट गया – साहित्यिक और रंगमंचीय।

रंगमंचीय नाटक और साहित्यिक नाटक यह विभाजन निश्चित तौर पर दुर्भाग्यपूर्ण था, परन्तु हिन्दी में इस विभाजन की धारा बही। प्रसाद से पूर्व भारतेन्दु ने जो प्रकट करना चाहा उसके लिये पारसी थियेटर से स्वतन्त्र रूपबन्ध तैयार किया क्योंकि वे रंगमंच की आवश्यकता के प्रति सचेत थे और यह सचेतता उनके रंगमंच से जुड़ाव का परिणाम थी। प्रसाद ने ठीक इसके विपरीत नाटक का रूपबन्ध और रंगमंच का विधान पारसी थियेटर का लेकर उसमें साहित्यिकता, काव्यात्मकता, भारतीय दृष्टि, सांस्कृतिक मूल्य, सांस्कृतिक चेतना का समाहार किया। लेकिन रंगमंच के दायित्व से स्वयं को मुक्त कर लिया। यहीं से साहित्यिक नाटक और रंगमंचीय नाटक का बखेड़ा शुरू होता है। सही मायनों में जो नाटक रंगमंचीय नहीं वह नाटक कहीं जा सकता है। साथ ही जो रचना मंचासीन अभिनेताओं, रंगकर्मियों द्वारा रंगशाला में बैठे दर्शकों से संप्रेषणीय न हो वह नाटक नहीं, फिर उसमें विद्यमान साहित्यिकता निरर्थक है। कारण स्पष्ट है कि यहां पर अन्तिम मूल्य रंग या नाट्य है। इस बुनियादी मूल्य का प्रतिमान रंगमंच है।

इस प्रकार अन्तिम बात यह कि नाटक की रचना प्रक्रिया नाटककार की लेखनी से निसृत होकर निर्देशक, अभिनेता, रंगशिल्पी से होकर अन्तिम स्थान अर्थात् दर्शक तक पहुँचकर ही पूर्ण होती है। इस बुनियादी सत्य से उपेक्षा या अज्ञानता नाटक और रंगमंच दोनों के लिए अहितकर है।

संदर्भ

1. रंगमंच : नया परिदृश्य, डॉ. रीतारानी पालीवाल, पृष्ठ-9
2. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, 1/116
3. नेमिचन्द्र जैन, रंगदर्शन, पृष्ठ 15
4. लक्ष्मीनारायण लाल, रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृष्ठ 15
5. लक्ष्मीनारायण लाल, आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ 39

संस्कृत नाट्यशाला की विशेषताएं

सोहन कुमार

मनुष्य आनन्द स्वरूप परमात्मा का अंश है जिस कारण उसके समस्त क्रिया-कलाप आनन्दानुभूति के लिए होते हैं। आनन्दानुभूति के लिए उद्‌भूत अनेक पदार्थों में काव्य की महत्ता असन्दिग्ध है काव्य की माधुरी अन्य समस्त माधुर्यों को तिरस्कृत करने वाली होती है। काव्य के माधुर्य का सोपान श्रव्य तथा दृश्य दो रूपों में ले सकते है। श्रव्य काव्य विशेषत: श्रवणीय तथा पठनीय होता है जबकि दृश्यकाव्य की सौन्दर्यानुभूति में चक्षुओं की प्रमुखता होती है और इसका प्रभाव साक्षात् हृदय पर पड़ता है। सद्य: पर निर्वृत्ति का शीघ्र अनुभव दृश्यकाव्य के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है।

"दृश्य श्रव्यत्वभेदेन पुन: काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्‌रूपारोपात्तु रूपकम्।।"[1]

दृश्यकाव्य में नाटकों अथवा उपरूपकों का ग्रहण होता है, क्योंकि इनका अभिनय किया जाता है। वे जनता के द्वारा दृश्य होते हैं। अभिनेता अभिनय की अवस्था में अपने उपर नाटकीय पात्र के स्वरूप का आरोप कर लेता है। जिसे नाटक कहा जाता है।

भारतीय नाट्यशास्त्र की विवेचना करते हुए महामुनि भरत ने अपने

नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया कि, "सम्पूर्ण देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना किया कि हमें ऐसी मनोरंजन की वस्तु दीजिए जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो, जिसे चारो वर्णों के व्यक्ति समान रूप से अपना सकें। उनकी प्रार्थना पर ब्रह्मा ने चारों वेदों से सार भाग लेकर पांचवे वेद नाट्यवेद की सृष्टि की। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद, कथोपकथन आदि), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस के तत्त्वों को लिया।"[2]

भरतमुनि के इस कथन को यदि स्थूल स्वरूप में देखा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि नाटक के लिए चार तत्त्वों की आवश्यकता होती है- संवाद, संगीत, अभिनय और रस। इन चारों तत्त्वों का यथासम्भव वेदों में प्रस्फुरण यह स्पष्ट करता है कि नाटक की उत्पत्ति वेदों से हुयी है तथा वेदों में ही नाटक के बीज उपलब्ध होते है। ऋग्वेद में संवादसूक्तों में यम-यमी संवाद, पुरुरवा-उर्वशी संवाद, सरमा-पाणिसंवाद आदि संवादों की उपलब्धि से, सामवेद में संगीत तत्त्व की सत्ता से, यजुर्वेद में धार्मिक कृत्यों के अवसर पर नश्त्य के विधान से नाटकीय तत्त्वों की वेदमूलकता में कोई संदेह नहीं है। रामायाण व महाभारत काल में तो रङ्गशाला, नट, कुशीलव, जैसे शब्दों का प्रचुर प्रयोग हमारी संस्कृत नाट्यकला की उन्नति का द्योतक है।

संस्कृत नाटकों का मंचन महाभारत तथा रामायण के काल से ही देखने को मिलता है। महाभारत के हरिवंश पर्व में उल्लेख मिलता है कि व्रजनाभ राक्षस की नगरी में रामायण और कौबेररम्भाभिसार नाटक खेले गयें। महर्षि पाणिनि का समय ईसा से कम से कम 450 वर्ष पूर्व माना जाता है। पाणिनि ने अपने सूत्रों में दो नाट्य सूत्रों अर्थात् नाट्यशास्त्रों का उल्लेख किया है जिसमें एक के रचयिता शिलालिन तथा दूसरे के कृशाश्व। जो यह स्पष्ट करता है कि पाणिनि से पूर्व भी नाट्यशास्त्र की उन्नत दशा प्राप्त होती है। पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' के अतिरिक्त 'जाम्बवतीजय' नाटक के नाट्यमंचन का उल्लेख मिलता है। महर्षि पंतजलि (150 ई.पू.) के 'महाभाष्य' में भी 'कंसवध' और 'बलिबन्धन' नामक नाटकों के खेले जाने का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रंथों, जैन ग्रन्थों और वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में भी नाटकों और नटों

का उल्लेख मिलता है। वात्स्यायन (दूसरी शताब्दी ई.) ने यह स्पष्ट लिखा है कि, "नट नागरिकों को नाटक दिखावें और दूसरे दिन अपना पारिश्रमिक या पुरस्कार लें। अगले दिन नागरिक चाहें तो फिर नाटक देखें, नहीं तो नटों को विदा करें।"[3]

भारतीय नाटककारों में सबसे प्राचीन रचनाएँ महाकवि भास की प्राप्त होती हैं भास ने 20 नाटकों का प्रणयन किया, जिसमें 13 नाटक प्राप्य है जिनमें सात नाटक 'उरूभंगम', 'मध्यमव्यायायोग', 'पंचरात्र', 'बालचरित्र', 'दूतकाव्यम्', 'इतघटोत्कच', 'कर्मभारम्' महाभारत की कथा पर आधारित है। अन्य दो नाटक 'अभिषेक' और 'प्रतिमा' रामायण की कथा पर आधारित हैं तथा शेष अन्य नाटक 'अभिमारक', 'प्रतियोगन्ध रायम्' तथा 'स्वप्न वासदत्' कल्पना पर आधारित है। भास के नाटकों का प्रदर्शन संस्कृत नाट्यशास्त्र की अनुकम्पा में हुआ। शुद्रक (दूसरी शती ई0) ने संस्कृत नाटकों की परम्परा में आन्दोलन स्वरूप प्रस्तुत किया। इनका नाटक 'मृच्छकटिकम्' इनकी कल्पना का स्फूर्त प्रदर्शन है। यह एक मात्र ऐसा नाटक है जिसमें मनुस्मृति आधारित धर्म तथा सामाजिक मान्यताओं पर करारा व्यंग प्रस्तुत किया है तथा हाशिए पर स्थापित सामाजिक मान्यताओं को मुख्यधारा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। कालिदास (पाचवीं शती ई.) की कृतियाँ ऐतिहासिक आलोक में सृजित की गयी है जिस कारण इतिहास आदि पर अवलम्बित हैं।

कालिदास ने गुप्तकाल की स्वर्णिम दशा को अपने नाटकों में प्रस्तुत किया है। इनके नाटक 'मालविकाग्नमित्रम्' तथा 'विक्रमोंवर्षियम' इतिहास का अवलम्बन लेकर सृजित हैं जबकि 'अभिज्ञान शाकुंतल' नामक नाटक महाभारत की कथा के कुछ अंशों को लेकर सृजित किया गया है जिनका सफल प्रस्तुतिकरण प्राचीन संस्कृत रंगपरम्परा तथा आधुनिक रंगशाला में हो चुका है। भवभूति (8वीं शती से 11वीं शती) संस्कृत साहित्य के जगमगाते हुए रत्न है इन्होंने 'महावीर चरित', 'मालती-माधव', तथा 'उत्तर रामचरित' आदि नाटकों का प्रणयन किया लेकिन इसमें उत्तर रामचरित' नाटक का विशिष्ट स्थान है।

महाकवि भवभूति कभी किसी काल विशेष से परिच्छिलित नहीं रहें उनका व्यक्तित्व व कृतित्व इतना प्रखर रहा कि उनकी साहित्यिक निधि सम्पूर्ण विश्व की निधि बन गयी। इन्होंने मालती-माधव में प्रेम की सजीव व उदात्त कल्पना दर्शकों के सम्मुख रखी है तथा 'महावीरचरित' रामायण की कहानी पर आधारित है जिसमें रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक तक की घटनाओं का वर्णन प्रस्तुत किया है इसमें कवि ने अपनी कल्पना शैली का विशेष प्रभाव प्रस्तुत किया है। भवभूति की प्रसिद्धि उनके नाटक "उत्तर रामचरित" से विशेष रूप से प्रसिद्ध हुयी, यद्यपि की इस नाटक में भी रामायण की कहानी को कथावस्तु के रूप में स्वीकार किया गया है लेकिन यह नाटक अपनी नाट्यकला तथा काव्यकला दोनों ही रूपों में पूर्णतः परिपक्व है।

आचार्य राजशेखर (9वीं शती ई.) के संस्कृत आचार्यों में अपनी ख्याति रखते हैं। इनके नाटक 'बालरामायण', ' बालभरत', 'विद्वशाल' तथा अपनी कल्पना शैली का समावेश कर नाटक को सर्वोच्च रूप में दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत किया। श्री हर्ष (606-648ई.) ऐतिहासिक कवि व नाटककार हैं। जिन्होंने 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका', 'नादानन्द' नामक नाटकों का प्रणयन किया। इनके अतिरिक्त अश्वघोष का नाटक 'सारीपुत्र-प्रकरण', विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', भट्टनारायण का 'वेणी-संहार' इत्यादि नाटककारों के नाटक हैं जिनका सफल मंचन संस्कृत रंगमंच के तत्वाधान में सम्भव हुआ है।

संस्कृत नाटकों की समृद्ध परम्परा में नाटकों की प्रस्तावना से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक अभिनय के लिए ही लिखे जाते थे और वे सतत् नाट्यगृहों में प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ प्रस्तुत किये जाते थें। नाट्यशास्त्र के साक्ष्य पर भी यह स्पष्ट है कि भरत ने अपना नाट्य-प्रयोग 'महेन्द्रध्वज उत्सव' के अवसर पर किया था। इस सम्बन्ध में नंदिकेश्वर ने अपने 'अभिनय दर्पण' में स्पष्ट निर्देश दिया है कि "नाट्य प्रयोग विवाह, यात्रा, अभिषेक, नगर या गृह प्रवेश, पुत्र जन्म तथा विशेष उत्सवों पर आयोजित किए जाने चाहिएं।"[4] सूत्रधार की उक्तियों से नाटकों के प्रदर्शन व मंचन होने का स्वरूप संस्कृत नाटकों में दिखाई पड़ता है जैसे-भवभूति के नाटक 'उत्तररामचरित' का प्रियनाथ की यात्रा

के समय तथा गुरुराम कवि के नाटक 'रत्नेश्वर प्रसादन' का भूनाथदेव के यात्रा के समय खेले जाने का साक्ष्य मिलता है। इसी प्रकार भास के नाटक 'प्रतिमा' का शरत काल में, कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' के वसंतोत्सव में और 'अभिज्ञानशाकुंतल' के ग्रीष्म ऋतु में विक्रमादित्य की राजसभा में खेले जाने का साक्ष्य मिलता है।

नाट्यप्रयोग प्राचीन समय में राजाओं और राजपुरुषों को तुष्ट करने के लिए होते थे लेकिन नाटकों का मंचन व खेला जाना केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित था ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि लोक में अनेक उत्सवों और उल्लास के अवसरों पर नाट्य की एक स्वीकृत परम्परा रही होगी।

प्राचीन भारतीय नाटकों के मंचन में प्राय: राजप्रासादों और देवालयों का प्रयोग होता था किन्तु यात्राओं, खुले प्रांगणों में भी जनसाधारण के लिए नाटक खेले जाते थे। इसके साथ ही नाट्यगृहों के स्वरूप के रूप में भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्यशालाओं का उल्लेख मिलता है जो कि वास्तुकला के प्राचीन ग्रन्थ 'समरांगण' सूत्रधार में प्रस्तुत नाट्यमण्डपों जैसा ही प्रतीत होता है। नाट्यशाला के लिए नाट्यवेश, प्रेक्षागृह, नाट्यमण्डप आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। नाट्यमण्डप के लिए भरत ने शैलगुहाकार होने की बात कही है जो वस्तुत: मंदिर वास्तुकला जैसा था जो लयण, गुहाधार या गुहराज नाम से अभिहित है जिसे शैल गुहाओं को काटकर बनाया जाता था। भरत ने तीन प्रकार के नाट्य मण्डपों की चर्चा की है-

(1) विकृष्ट (आयताकार)

(2) चतुरस्त्र (वर्गाकार)

(3) त्रयस्त्र (त्रिभुजाकार)

परवर्ती आचार्यों ने प्रत्येक को ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर नाम से क्रमश: विभाजित किया है। भरत ने विकृष्ट मध्यम (64×32 हाथ) से बड़े रंगमंच को उचित माना है तथा यह स्पष्ट रूप से मान लिया गया है कि लम्बे-चौड़े रंगपीठ केवल डीम आदि नाटकों के लिए उपयुक्त

होते थे जिनमें असुर आदि पात्र होते थे। विभिन्न कोटि के नाट्यमंडपों की उपयोगिता विभिन्न पात्रों-देवता, असुरों, सामान्य जनों के आधार पर आँकी गयी है अत: इसमें मध्यम परिमाण वाले मण्डप को ही उत्तम माना गया है। चतुरस्त्र मण्डप चौकोर होता था तथा त्र्यस्त्र नाट्य मण्डप तिकोना बनाया जाता था और त्रिकोण के बीच में रंगीपीठ हुआ करता था। इन प्रेक्षागृहों का आधा-भाग दर्शकों के बैठने के लिए होता था तथा आधा भाग रंगकर्म के लिए होता था। रंगपीठ पर नाटक खेला जाता था जो दर्शकों से 4 हाथ की दूरी पर होता था। रंगपीठ के दोनो ओर मतवारणी होती थी। रंगशीर्ष की स्थिति रंगपीठ के पीछे होती थी। सम्भवत: इसका प्रयोग अभिनेताओं के विश्राम के लिए होता था। भरत ने उसे "षड्दारूक" ढांचे पर आधारित किए जाने की बात की है। सम्भवत: रंगशीर्ष और रंगपीठ के धरातल में अन्तर होता था। जिसके लिए 'रंगावतरण' शब्द का प्रयोग भरत ने किया है जिसे परवर्ती विद्वानों ने नेपथ्यगृह से रंगपीठ का प्रवेशद्वार माना था। इस बात के भी प्रमाण हैं कि रंगपीठ के अग्रभाग में यवनिका होती थी जिसे संस्कृत नाटकों में घटी तिरस्करणी, प्रतिशिरा आदि नामों से अभिहित किया गया है। यवनिका का प्रयोग रंगशीर्ष तथा नेपथ्य गृह के विभाजक के रूप में होता था जिससे रंगशीर्ष की ओर जाते हुए पात्र प्रेक्षकों की दृष्टि से ओझल हो जाते थे।[5]

भरतमुनि ने रंगमंच को कई कक्षाओं में बाँटा है, नाट्यशास्त्र में इसे तीन कक्षाओं में विभाजित किया गया है - आभ्यंतर, मध्य, बाह्य। ऐसा प्रतीत होता है कि कक्षाएँ रंगशीर्ष के स्तम्भों के बीच होती थीं। इस कक्षा-विभाग को कुछ वास्तविक तथा कुछ काल्पनिक मात्र मानते हैं। यह कक्ष्य विभाजन कोई स्थापत्य सम्बन्धी विभाजन न होकर अपितु यह केवल नाट्य वस्तु की अपेक्षा के अनुसार विभिन्न स्थानों, क्षेत्रों, नगरों, वन-उपवनों तथा स्थान परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए इस तरह का कक्ष्य विभाजन संकेतित रूप में किया जाता रहा होगा।

संस्कृत रंगमंच वस्तुत: पूर्णत: सत्याभास-विरोधी था अत: ऐसे उपायों का प्रयोग बहुत ही उचित जान पड़ता था। भरतमुनि ने अपने

नाट्यशास्त्र में प्रेक्षकों की आसन विधि का भी स्वरूप प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में भरतमुनि के अतिरिक्त अभिनवगुप्त, भट्टतौत तथा वार्तिकार के मत भी उपलब्ध है। विभिन्न जातियों और वर्णों के लिए विभिन्न रंगों के स्तम्भों के पास बैठने की व्यवस्था थी। श्वेत स्तम्भ के पास ब्राह्मणों के लिए, लाल स्तम्भ क्षत्रियों के लिए और उनके पीछे पीले और नीले रंग के स्तम्भों के पीछे वैश्यों और शूद्रों के लिए स्थान नियत था। स्तम्भ और भी होते थे पर उनके सन्दर्भ में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है लेकिन यह स्पष्ट है कि प्रेक्षकों के आसन सोपानाकृति में होते थे।

संस्कृत नाट्य और रंगमंच का मूलाधार भारतीय जीवनदर्शन है। भारतीय नाट्य और रंगमंच का उद्‌भव धार्मिक परिस्थितियों में अथवा धार्मिक कृत्य के रूप में हुआ था। इसीलिए उसकी परम्पराएँ अनुष्ठानगत है। नाट्यशास्त्र में यह स्पष्टतः कहा गया है कि "जो रंगपूजा के बिना प्रयोग करेगा उसका नाट्यज्ञान ही व्यर्थ नहीं जायेगा वरन् वह पशुयोनि में भी चला जायेगा।"[6] अतः रंगमंच के निर्माण में धार्मिक विधियाँ निश्चित थी। नाट्यशाला के निर्माण के लिए भूमि परिशोधन मुहूर्त-निर्धारण, पुण्याहवाचन आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूढ़ियाँ थी। इसी प्रकार रंगभूमि में नाट्य प्रयोग से पूर्व रंग की सारी प्रक्रिया में भरत ने प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रवणा, वक्तपाणि, परिघटना, संघोटना, मार्गसारित, आसारित, उत्थापन, परिवर्तन, नादी, रंगद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत, प्ररोचना आदि अनेक विधि-विधानों को गिनाया गया है जो देवताओं आदि के परितोष के लिए यवनिका के अन्दर और बाहर सम्पादित किए जाते थे।

भारतीय प्राचीन संस्कृत रंगमंच पाश्चात्य रंगमंच की तरह थकान उतारने का साधना कभी नहीं रहा है। इसमें मंगल और मांगल्य की भावना प्रमुख रही है। यही कारण है कि भरतमुनि लिखते हैं, "इस नाट्यवेद के अन्तर्गत कहीं धर्म है, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शांति अथवा श्रम, कहीं हंसी, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वध का अनुसरण है। इसमें कर्तव्य का पालन करने वालों के लिए कर्तव्य की शिक्षा है, काम की इच्छा करने वालों को काम है, दुर्विनीतों के लिए

निग्रह करने तथा विनीत के लिए शम की क्रिया भी इसमें विद्यमान है। यह नाट्यवेद कायरों में साहस उत्पन्न करने वाला, वीरों में उत्साह भरने वाला, अज्ञानियों को ज्ञान बोध कराने वाला है। यह नाट्य रस, भाव, कर्म तथा क्रियाओं के अभिनय द्वारा लोक में सबको उपदेश देने वाला भी है।[7]

स्पष्टतः नाटक का यह दायित्व उसके सामाजिक स्वरूप की व्याख्या करता है और उन लक्ष्यों को उभारता है जो भारतीय संस्कृति के प्राणतत्व है। इसमें अद्यिभौतिक और आध्यात्मिक तत्त्व सर्वोपरि है यही कारण है कि भारतीय संस्कृति रंगमंच और नाट्य का मूल स्वर संघर्ष का न होकर प्राप्ति का है।

संस्कृत रंगमंच में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों ही परम्पराओं को परस्पर स्वीकार किया गया था। लोकधर्मी नाट्य में लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण ही साध्य था वस्तुतः नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विकास लोकधर्मी नाट्य-परम्परा से ही हुआ है। इसीलिए भरत ने नाट्य-प्रयोग के लिए आध्यात्म और वेद की अपेक्षा लोक को ही प्रमाण माना है। उनके अनुसार लोकधर्मी नाट्य-परम्परा में अंगाहार आदि आंगिक विलास लीलाओं का प्रयोग नहीं होता और वस्तु का यथावत वर्णन ही उसका लक्ष्य होता है-

> "स्वभाव भावोपगतं शुद्धं तु प्रकृतं तथा।
> लोकवार्ता कियोपेत मंगलीला विवर्जितम्।।
> स्वाभावाभिनयोपेतं नाना स्त्री पुरुषात्रयम्।
> यदीदृश्यं भवेन्नाट्यं। लोकधर्मी तु स्मृता।।"[8]

दूसरी ओर नाट्यधर्मी रूढ़ि में नाटक और नाट्य प्रयोग दोनों में परिष्कृत बुद्धि और समृद्ध कल्पना का योग होता है। इस प्रकार प्राचीन इतिवृत्तों के रमणीय रूप और नवीन कलात्मक विन्यास के साथ प्रस्तुत करना नाट्यधर्मी रूढ़ि की विशेषता है, उसमें अभिनय भी अंगहारों आदि के समावेश से अधिक रोचक होता है। जो स्वाभाविक अर्थात् मानव स्वभाव है, वह लोकधर्मी नाट्य परम्परा कहलाती और जो विभाव अर्थात

कलात्मक और कृत्रिम है, उसे नाट्य धर्मी रूढ़ि की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार संस्कृत रंगमंच और नाटक ने इन दो धर्मिताओं का समाहार करने का बीड़ा उठाया। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत रंगमंच भावधर्मी तथा वस्तुधर्मी दोनों है। रंगमंच का अनुभव जहाँ एक ओर अलौकिक है, वहीं उसकी जड़ें लौकिक जीवन में निहित है।

नाट्य-प्रयोग को नाट्यशास्त्र में एक घटना के रूप में लिया गया है। कालिदास ने इसे 'चाक्षुष यज्ञ' की संज्ञा दी है।[9] किसी भी नाट्य-प्रयोग के लिए अभिनेता और प्रेक्षक सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में पात्रों के संदर्भ में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए है उनके अनुसार रंगमंच पर प्रयोक्ता पात्र अभिनेता स्वभाव को त्यागकर पर-भाव को ग्रहण करता है और प्रयोगकाल में तद्नुरूप होने का प्रयास करता है। अभिनेता की आकृति-प्रकृति के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने वय, वेश, अंगरचना आदि सभी की अनुरूपता का विधान किया है और इस प्रकार 'अनुरूपा' प्रकृति का समर्थन किया है।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में जिस अभिनय की चर्चा की है, उससे स्पष्ट होता है कि यह एक सुनिश्चित व्यवसाय था और कठोर अनुशासन और प्रशिक्षण पर निर्भर था। भावाभिव्यक्ति के लिए सिर-नाक, मुंह, कपोल, चिंबुक, आँख, हाथ आदि विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का विवेचन भरत ने विस्तार से किया है। भरतमुनि ने अभिनय के 4 रूपों को प्रस्तुत किया है माध्यम से नाट्यरचना रंगमंच पर अवतरित होती है, इसी से भरत ने कहा है कि , "अभिनय में ही नाट्य प्रतिष्ठित है।"[10] प्राचीन परम्परा में लिखित पाठ के साथ मंच पर अभिनय का संयोग होने पर ही नाट्य को अपना स्वरूप मिलता है। अभिनय के चार प्रकार है–

1) आंगिक अभिनय का विवरण भरत ने चार अध्यायों में प्रस्तुत किया है। पहले में मुखज, शरीर और चेष्टाकृत तीन विभाजन करके अंग, उपांग एवं प्रत्यांग के अभिनयों को विश्लेषित किया है, फिर नृत्तगतियों, चारी, एवं गतिप्रचार का वर्णन करते हुए आंशिक अभिनय सम्बन्धी रुढ़ियों को स्पष्ट किया है। छः प्रकार के अंग- शिर, हस्त, कटि, वक्षस्थल, पार्श्व एवं चरण का विवरण है तथा छः प्रकार के उपांग-नेत्र, भौं, नासा, अधर, कपोल एवं चिंबुक का विवरण प्रस्तुत है। इनका अभिनय भावस्थितियों एवं रस व्यंजना से जुड़ता है। शरीर अभिनय में हस्ताभिनय का भी महत्वपूर्ण चौबीस अलग-अलग प्रयोग है और तेरह सम्मिलित है। अभिनेता के गति विधान से नाट्य रस, नाट्य पात्र का व्यक्तित्व, कथानक की स्थिति और मंच के विभिन्न स्थलों का अस्तित्व प्रकट होता है अर्थात् आंगिक अभिनय में प्रदर्शित समस्त शारीरिक क्रियाएँ मानव के मनोभावों की प्रति छवियाँ है।

2) वाचिक अभिनय को भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में 'नाट्य का शरीर' कहा है। नाट्य में प्रस्तुत कायिक, आहार्य और सात्विक आदि वस्तुतः अभिनय के विभिन्न रूपों में अर्थ को व्यंजित करते हैं। नाटक में शब्द के प्रयोग को वाचिक अभिनय की संज्ञा दी गयी है स्पष्ट है कि नाटक के कथोपकथन में शब्दों को प्रयुक्त करते हुए नाटककार को यह ध्यान रखना पड़ता है कि उच्चारण में अपेक्षित आरोहमूलक गति सम्भव हो सके और वचन के अभिनय में श्रुतिमार्धुम और नाटकीय गतिशीलता आ सके। इसके लिए भरत ने नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग, तद्धित, विभक्ति, संधि को ठीक ढंग से प्रयुक्त करने पर बल दिया है। तथा इसके 36 लक्षणों का भी उल्लेख किया है।

3) भारतीय नाट्य रसाश्रयी है। रस सत्वोद्रेक का परिणाम है। अतः सात्विक मन पर पड़े शोक, हर्ष आदि के प्रभाव से प्रकट होने वाले अश्रु आदि अनुभावों का अभिनय ही नाटक में सात्यिक अभिनय कहलाता है जो सत्व, मन, रज और तम गुणों से अस्पृष्ट होता है। भरतमुनि ने आठ प्रकार के सात्विक भावों-स्तम्भ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु, वैस्वर्य आदि उल्लेख किया है। इन आठों भावों से युक्त अभिनय कौशल का अभिनेता द्वारा प्रदर्शन ही सात्विक अभिनय है।

4) आहार्य अभिनय की तैयारी के फलस्वरूप ही भरतमुनि ने रंगविधान में नेपथ्य की कल्पना की है नेपथ्य में सूचिका और सूचीगृह

होते हैं, जो क्रमशः पुरुष और स्त्री दोनों की पृथक सज्जा के लिये नियत होते हैं। अभिनय की भूमिका में उतरने वाले पुरुष अभिनेता अपने मुखादि पर चरित्रानुरूप नीले, पीले लाल, काले रंग या चन्दन लेप आदि लगाते हैं या वस्ताभरण, मुकुट, मुखौटे आदि धारण करते हैं तथा स्त्रियाँ अंगरागादि लगाती है, केश-विन्यास करती है तथा वस्त्राभरण पहनती हैं। आहार्य अभिनय का प्रयोजन रंगाभिव्यक्ति में दृश्यगत अभिरम्यता उत्पन्न करना, प्रसंगानुकूल वातावरण का सृजन करके अर्थग्रहण को सुकर बनाना होता है।

5) चित्राभिनय एक अन्य सामान्य अभिनय है जिसका वर्णन भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। चित्राभिनय में विभाव आदि का अभिनय करने के लिए विशिष्ट प्रतीकों और कल्पनाओं का विधान किया है। इससे अभिनय में सौन्दर्य अधिक आता है। इसके द्वारा प्रभात, संध्या, रात्रि, सूर्य, चन्द्रमा का उदयास्त, नदी, समुद्र, पर्वत और जल प्रलय आदि विभिन्न ऋतुएँ, मुनष्य की विविध मनोदशाओं को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे- 'अभिज्ञान शाकुंतल' में मालनी नदी के तट पर स्थित कण्वाश्रम की ओर बैठा चला आ रहा राजा दुष्यन्त इसका एक उदाहरण है। 'मृच्छकटिक' में वर्षा, मेघ-गर्जन, का चित्रण इत्यादि।[11]

नाट्यशास्त्र में अभिनय के दौरान प्रतीक विधि से वस्तुओं और दृश्यों के प्रस्तुतिकरण का भी विधान है जो स्पष्ट करता है कि संस्कृत मंच पर अभिनय एक विशिष्ट और शैलीबद्ध शिल्प में ढल गया था। आकाशभाषित, आत्मगत, अपवारित और जनांतिक और रूढ़ियाँ भी इसी कौशल का अंग थी। अन्य पात्रों की उपस्थिति के बिना ही उत्तर-प्रत्युत्तर शैली के संवादों की योजना करके प्रायः पात्र की स्थिति का संकेत उभारने में आकाशभाषित अभिनय की शैली की प्रतीकात्मक प्रणाली का उपयोग करता है। जनांतिक जैसे सीमिति श्राव्य संवादों के स्वरूप का आभास भी अभिनय मुद्रा के द्वारा ही दिया जाता है इसमें त्रिपताका हस्ताभिनय शैली का प्रयोग किया जाता है।

अभिनय अनेक विधानों पर आधारित था पर उसका लक्ष्य केवल

भावाभिव्यक्ति था। भरत ने 49 भावों की अवधारणा की है तथा भावों की सहज अभिव्यक्ति को ही सफल अभिनय की कुंजी माना है।

प्राचीन भारतीय रंगमंच की दृश्यविधान परम्परा उच्चकोटि की नहीं रही है लेकिन भारतीय रंगदृष्टि कभी अनुकरण मूलक भी नहीं रही है। वस्तुतः अभिनय की पद्धति से ही स्पष्ट है कि दृश्य का स्वरूप संवाद और अभिनय से उजागर करने की एक विशिष्ट परम्परा थी जिसमें प्रतीकात्मक और कलात्मक अभिव्यक्ति ही मुख्य थी। यथार्थ का अनुकरण कभी नहीं रहा। भारतीय रंगमंच पर सम्भवतः कोई बाहरी पर्दा नहीं होता था। लेकिन रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच पर्दा होता था। कुछ विद्वानों का विचार है कि रंगमंच पर कई स्थानों पर पर्दे का प्रयोग होता था जैसे-रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच, रंगशीर्ष और नेपथ्य के बीच।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत रंगमंच पर रंगविभाजन की जो पद्धति थी उसमें विभिन्न पर्दों की उपयोगिता स्पष्ट रूप से सामने आती है। इसके अतिरिक्त रंगमंच पर कई कक्षाओं की विभिाजित स्वरूप में किसी प्रकार का दृश्य विधान भी होता था। इस दृश्य विधान का एक स्वरूप तो यह था कि रंगशीर्ष में वैदूर्य, स्फटिक एवं सोने का काम किया गया हो, स्तम्भों पर नक्काशी हो या पशु-पक्षियों के लिए अंकित हों। प्राचीन भारतीय रंगमंच पर पुस्त, अलंकार, अंगरचना, तथा संलीव विधियों का प्रयोग होता था। पुस्त के योग से शैल, मान, विमान, रथ-हाथी आदि अनेक लौकिक पदार्थों, वस्तुओं आदि की रचना की जाती थी। इसके अतिरिक्त दुर्ग, वाहन, विमान रथ इत्यादि को कुछ वस्तुओं को जोड़कर बनाते थें। जिसे 'संघिम' कहा जाता था तथा दूसरी विधि 'वेस्टिम' कहलाती थी जिसमें वस्त्र आदि को लपेटकर कई वस्तुएँ तैयार किया जाता था जिसमें शैल, मान, विमान, नाग आदि बनाये जाते थे।

संस्कृत रंगमंच में अलंकार आहार्य का वह अंग था जिसमें माल्य, आभरण और वेश-विन्यास मुख्य होता था। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के (इक्कीसवें अध्याय) में स्त्रियों और पुरुषों के आभूषणों के साथ-साथ

सिर, ललाट, कान, नाक, कण्ठ, बाहुमूल श्रेणी आदि विभिन्न अंग-प्रत्यांगों के आभूषणों की चर्चा हुई है। अंगरचना के अन्तर्गत अंगों की रचना और केश-विन्यास का वर्णन मिलता है अंग रचना में विभिन्न रंगों का उल्लेख मिलता है जिनमें प्रत्येक जाति के लिए विभिन्न रंग निश्चित किए गये थे तथा वेशभूषा भी इसी का अंग होती थी। वेशभूषा के अतिरिक्त पात्र-विशेष मंच पर आसनों का भी उल्लेख मिलता है जिनमें ब्राह्मण, राजा, देवी-देवताओं के लिए सिंहासन, मंत्रियों के लिए बेंत के आसन, युवराज व सेनापतियों के लिए मुंडासन तथा अन्य राजपुरुषों के लिए कुंथा आसन का प्रावधान प्रस्तुत किया है भरतमुनि ने।

भाषा या संवाद रंगमंच पर अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन की भूमिका अदा करते हैं। रंगमंच पर अभिव्यक्ति के और भी साधन होते हैं, भाषा या संवाद क्रिया-व्यापार की भौतिक और पात्र की मानसिक स्थिति का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। भरतमुनि अभिव्यक्ति के इस स्वरूप की व्याख्या वाचिक अभिनय के अन्तर्गत की है। अभिनय भाषा पर निर्भर होता है इसलिए उन्होंने संज्ञा, क्रिया, निपात, उपसर्ग, तध्दित, समास, सन्धि, विभक्ति आदि का व्याकरणिक परिचय दिया है। इसी के साथ छन्दों और अलंकारों की भी बात कही गयी है। कुल मिलाकर यह वर्णन पाठ्य से अधिक सम्बद्ध है, अभिनय से नहीं, फिर भी भरत के विवेचन से रंगमंच सम्बन्धी भाषिक सूत्र निकाले जा सकते हैं। इनमें से एक व्याहारिक बात यह है कि नाट्य में प्रयुक्त विविध भाषाओं, सम्बोधनों, वृत्तियों, पात्रों के नामकरण आदि विषयों के विवेचन में रंग-संदर्भो की दृष्टि से पर्याप्त सार्थकता दिखाई देती है। संस्कृत नाट्कों में यह भाग काफी रहता था इसलिए भरत ने ध्वनियों और छन्दों की चर्चा की है तथा काव्य को नाटक का अंग माना है।

इस प्रकार समग्र रूप में कह सकते हैं कि संस्कृत रंगमंच की सारी परिकल्पना काव्यात्मक है इसीलिए उसका बल रस-निष्पत्ति पर अधिक दिखाई देती है। यद्यपि वर्तमान समय में संस्कृत नाट्य परम्परा मृतप्राय हो चुकी है लेकिन उसके तत्त्व आज भी जीवन्त है। संस्कृत रंगमंच सत्याभास-विरोधी तथा कल्पना पर आश्रित रंगमंच था। रंगमंच के प्रति

यह धारणा पूर्णतः कलात्मक है तथा आज की प्रवृत्तियों के अनुकूल है इसीलिए संस्कृत रंगमंच के पुनर्जीवन्त करने के विचार में युग के कला-बोध को लेकर कोई समस्या नहीं है क्योंकि संस्कृत नाटक सम्पूर्ण रंगमंच है और वह अपना सम्पूर्ण प्रभाव दर्शक वर्ग को अभिप्रेरित करने के लिए अपने अभिनेताओं से विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की अपेक्षा रखता है। यद्यपि संस्कृत नाटक के अभिनेता का शास्त्रीय नर्तक होना आवश्यक नहीं पर आवश्यक सौन्दर्य गति की नमनीयता और लय-बोध प्राप्त करने के लिए मूलभूत अनुशासन का अनुभव आवश्यक है। जो दर्शको में रस का उद्रेक कर सके और मंच की सार्थकता सिद्ध हो सके।

सन्दर्भ

1. साहित्य दर्पण, अभिनव गुप्त, 6-1
2. संस्कृत नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, 1/16/17
3. कामसूत्र, वात्स्यायन, 1/4/28-31
4. अभिनव दर्पण : 12/13/14
5. नाट्यशास्त्र : 2/75
6. अभिनव भारती : 2/93-94
7. नाट्यशास्त्र : अध्याय -3
8. नाट्यशास्त्र : 13/71-72
9. नाट्यशास्त्र : 6/24-37
10. नाट्यशास्त्र : 19/51-53
11. नाट्यशास्त्र : 26/2-6

सहायक ग्रंथ

1. संक्षिप्त नाट्यशास्त्र, राधा वल्लभ त्रिपाठी
2. कण्ट्राव्यूशन्स टु द हिस्ट्री ऑव हिंदू ड्रामा (अनुवाद), डॉ. मनमोहन घोष
3. भरत और भारतीय नाट्य कला, सुरेन्द्र नाथ दीक्षित
4. शांता गांधी का लेख, नटरंग अंक 1
5. रंगदर्शन, नेमिचन्द्र जैन

6. दर्शन-प्रदर्शन, देवेन्द्रराज अंकुर
7. भारतीय भाषाओं का नाट्य साहित्य, शान्ति मलिक
8. रंगमंच, कला और दृष्टि, डॉ. गोविन्द चातक
9. रंगमंच, (शेल्डान चेनी), अनुवाद श्रीकृष्ण दास
10. भारतीय रंगमंच में नए प्रयोग, राजेश्वर कुमार सक्सेना, नया पथ पत्रिका (नाटक विशेषांक)

साहित्य, समाज और रंगमंच

अभिषेक कुमार

कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, निबंध इत्यादि की तरह नाटक भी साहित्य की एक विधा है। 'बहुत दिनों तक नाटककार को ही कवि की संज्ञा से जाना जाता था।' देखा जाए तो एक ही साहित्यकार कई विधाओं में अपना रचना-कर्म करते रहे हैं, व उनमें सिद्ध-हस्त भी थे। आधुनिक काल की शुरुआत हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मानी जाती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कई विधाओं की शुरुआत की जिनमें निबंध, पत्र-पत्रिकाएं, आत्मकथा भी थीं। लेकिन इनकी ख्याति नाटकों से ज्यादा हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र घुमक्कड़ प्रकृति के थे। इनका उद्देश्य था कि कैसे हिन्दी का प्रचार-प्रसार किया जाए तथा विदेशी शासकों से देश को मुक्त किया जाए। इसके लिए उन्होंने नाटक माध्यम को चुना। इसलिए उन्होंने नाटकों की भाषा आम-फहम की भाषा रखा। इनके नाटकों का मुख्य स्वर भारतीय जनता को जगाना, संगठित करना तथा उनमें अपनी पहचान के लिए लड़ने का हौसला भरना था। भारतेन्दु अच्छी तरह जानते थे कि नाटक जनता से संवाद करने का सबसे सशक्त जरिया है।

भारतेन्दु एक दृष्टि संपन्न रंगकर्मी थे। उन्होंने अपने आप को मात्र

रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया अपितु खुद को अभिनेता, व्यवस्थापक और निर्देशक के रूप में भी स्थापित किया। 'कविवचन-सुधा' एवं 'हरिश्चन्द्र मैग्जीन' नामक पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। ये पत्र-पत्रिकाएं मात्र तात्कालिक सूचना के स्रोत नहीं थे बल्कि उसमें समय-समय पर नाटकों के गुण-दोष के बारे में भी वे लिखते रहे। 'नाटक' नामक निबंध लिखकर उन्होंने नाटक का प्रतिमान तय किया।

भारतेन्दु मण्डली के नाटककारों में प्रताप नारायण मिश्र, किशोरी लाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण व्यास, लाल श्रीनिवास द्वारा इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इन नाटककारों ने अपने नाटकों को समाज तथा रंगमंच से जोड़ा लेकिन साहित्य से उतना नहीं जुड़े। इसका प्रमुख कारण भाषा थी। इनके नाटकों में सुधारवादी चेतना ही प्रमुख थी।

भारतेन्दु के बाद नाटकों में एक बड़ा नाम जयशंकर प्रसाद का आता है। जयशंकर प्रसाद के नाम पर ही 'प्रसाद युग' का नामकरण हुआ। प्रसाद के नाटकों में पुनर्जागरण एवं स्वच्छंदतावाद की विशेषताएं मिलती है। प्रसाद नाटक के क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन लेकर उपस्थित होते हैं। इनके नाटकों की मुख्य विशेषता साहित्यिकता तो थी ही साथ ही अतीत का गुणगाान एवं सुनहरे भविष्य की योजना भी थी। प्रसाद ने कार्य-कारण-संबंध की श्रृंखला में बांधकर पात्रों को चरित्रों में ढाला जिससे मूल्यों एवं संस्कारों के आधार पर उनकी अलग पहचान बनी। पात्रों का यथार्थ रूप दिखाने के लिए उनमें अंतर्द्वन्द्वों की योजना की। भारतेन्दु जहां अपने नाटकों में जनता के आस-पास बोली जाने वाली भाषा को उठाते हैं वहीं प्रसाद उसे छोड़कर एक साहित्यिक भाषा गढ़ते हैं।

प्रसाद, पारसी रंगमंच के पतनशील मूल्यों से अत्यन्त क्षुब्ध थे। चूँकि पारसी रंगमंच व्यवसायिक रंगमंच था। इसका उद्देश्य पैसा कमाना था। जबकि भारतेन्दु एवं प्रसाद का उद्देश्य पैसा कमाना नहीं था, बल्कि राष्ट्रीय चेतना जगाना था। पारसी रंगमंच से जुड़े प्रमुख नाम - राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद 'बेताब' और आगाहश्र था। राष्ट्रीय स्वाधीनता

आंदोलन का असर बाद में इन नाटककारों पर भी पड़ा। इसी कारण उन्होंने पारसी रंगमंच की श्रृंगारिक रुझान वाली गति नृत्य परक प्रवृत्ति में बदलाव लाकर नाटक को भारतीय संस्कृति के गौरव-गान से जोड़ा। व्यवसायिक रंगमंच होने के कारण पारसी रंगमंच के नाटकों में मनोरंजन के ताप इतने प्रमुख हैं कि पता नहीं चलता कि इन नाटकों में राष्ट्रीय भावधारा भी बह रही है। 'बेताब', 'मीठा जहर' राधेश्याम कथावाक के 'कृष्ण सुदामा' एवं आगा हश्र कृत 'चण्डीदास नाटक' भावुकता से लबालब भरे हैं।

प्रसाद का नाटक साहित्य में हमेशा अपना उच्च स्थान तो बनाए ही रखेगा, साथ रंगमंच के क्षेत्र में 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' भी हमेशा चर्चा के केन्द्र में बने रहेंगे। देखा जाए तो 60-70 वर्षों में जितनी चर्चा, जितना विवाद और जितना प्रचार-प्रसार जयशंकर प्रसाद के नाटकों का हुआ उतना शायद ही किसी और नाटककार के नाटकों का हुआ हो। देवेन्द्र राज अंकुर इसके कारण स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि- "एक तो यही कि इन नाटकों की अनभिनेयता को लेकर विद्वानों, अध्येताओं और रंगकर्मियों के बीच कितनी ही दुविधा हो, पाठ्य-पुस्तकों के रूप में प्रसाद का लगभग हर नाटक देश के सभी बी.ए., एम.ए. के हिन्दी पाठ्यक्रमों में शुरू से लगा हुआ है। ... दूसरी ओर भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के परिप्रेक्ष्य से प्रसाद जिस तरह से अपने नाटकों के कथानक सुदूर, लेकिन गौरवमय अतीत में से ढूँढकर लाए उसने जनमानस पर बहुत गहरा असर डाला और साहित्य, समाज तथा रंगमंच को एक-दूसरे के बहुत नजदीक ला दिया।"[1]

प्रसाद द्वारा रंगमंच पर दिया गया वक्तव्य साहित्य और रंगमंच दोनों क्षेत्रों में खूब विवाद पैदा किया। प्रसाद ने अपनी स्थापना रखते हुए लिखते हैं कि - "नाटक के लिए रंगमंच होना चाहिए, न कि रंगमंच के लिए नाटक।"[2] प्रसाद जहां रंगमंच के लिए नाटक स्थापना को बल देते हैं वही दूसरी तरफ भाषा तथा साहित्य के विकास के लिए लिखते हैं- "यदि हिन्दी भाषा का व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार करना है तो वह नाटक जैसे माध्यम से ही संभव हो सकता है। क्योंकि जब तक कोई

भाषा ज्यादा-से-ज्यादा व्यवहार में नहीं आती अर्थात् बोली नहीं जाती तब तक उसका प्रचार-प्रसार संभव नहीं है और नाटक जैसी विधा यह सुविधा स्वयं ही प्रदान करती है।" पारसी रंगमंच की लोकप्रियता का प्रमुख कारण यही था कि वह साहित्यिक भाषा की जगह मनोरंजक भाषाओं का भी प्रयोग करती थी। प्रसाद से पहले 'पाठ्य-नाटक' और 'मंचित-नाटक' जैसे प्रश्न नाटक के क्षेत्र में नहीं था। नाटक साहित्य और रंगमंच दोनों जगहों पर प्रतिष्ठित था। लेकिन प्रसाद की स्थापना के बाद से लेकर आज तक जब भी नाटक और रंगमंच, साहित्य और रंगमंच पर चर्चा होती है तो यह सवाल सबसे ज्यादा चर्चा के केन्द्र में आता है कि नाटक को साहित्य का हिस्सा माना जाए अथवा रंगमंच का। 'यदि एक तरफ साहित्य और रंगमंच के बीच की दूरी बढ़ती यी वहीं दूसरी तरफ अनायास और शायद अनजाने में ये दोनों विधाएं एक-दूसरे के बहुत नजदीक आ गई।'

1942 में गांधी जी द्वारा 'भारत छोड़ो आंदोलन' की शुरुआत हुई। दूसरी 1943 में भारतीय जननाट्य संघ (1943) और 1940 में पृथ्वी थियेटर की स्थापना होती है। इस तरह साहित्य, रंगमंच और दूसरी कलाओं के बीच की दूरियां कम होने लगती हैं। भारतीय जननाट्य संघ प्रगतिशील सांस्कृतिक विचारधारा के प्रसार का लक्ष्य लेकर चला था। इसने हिन्दी रंगमंच को रघुवंशी, ख्वाजाअब्बास एवं बलराज साहनी जैसे रंगकर्मी दिया। इन रंगकर्मियों ने यथार्थवादी अभिनय-पद्धति का विकास किया। वहीं दूसरी तरफ पृथ्वी थियेटर के सूत्रधार पृथ्वीराज कपूर पारसी अभिनय पद्धति में सिद्धहस्त थे।

आजादी के बाद केन्द्र सरकार के उद्योग से 'संगीत नाटक अकादमी' और 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' (दिल्ली) अस्तित्व में आए। इनकी वजह से उस समय प्रसिद्ध रंगकर्मियों ने जुड़कर नई संभावनाएं जगाई। आजादी के साथ ही हर दिशा में परिवर्तन होना शुरू हुआ। साहित्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन होने लगा, नाटक इससे अछूता कैसे रहता। मूल्य-संकट, रिश्तों में तनाव, संत्रास, घुटन, नई भंगिमा इत्यादि का प्रयोग नाटकों में जगह बनाई। इस काल के प्रतिनिधि नाटककार

जगदीशचंद्र माथुर, धर्मवीर भारती, हबीब तनवीर, मोहन राकेश हैं। इनके नाटक साहित्य तथा रंगमंच से तो सशक्त रूप से जुड़ते ही हैं साथ ही समाज की स्थिति को कटु सच्चाई से उठाते हैं।

'अंधा-युग' में आस्था का संकट है तो 'आगरा-बाजार' में लोक संस्कृति की जीवन्त अभिव्यक्ति। 'कोणार्क' और 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक रचनाकार और सत्ता के आपसी संबंधों के अंतर्विरोध को उजागर करते हैं। महत्वाकांक्षा एवं व्यक्ति-स्वातंत्र्य-चेतना की टकराहट से चरित्रों की नई पहचान बनती है। हबीब तनवीर भी, अपने नाटकों में लोक रंगमंच की खूबियों का सफल सर्जनात्मक उपयोग किया है। 'चरणदास चोर', 'गांव का नाम ससुराल' इनके उल्लेखनीय नाटक हैं।

1936 में रेडियो अस्तित्व में आया। रेडियो आने के कारण भी नाटक लेखन एवं प्रस्तुति में भारी परिवर्तन आया। नाटक ही ऐसी विधा है जो दृश्य एवं श्रव्य दोनों माध्यमों में अपनी प्रस्तुति देता है। 'अंधा-युग' नाटक मूलतः रेडियो के लिए ही लिखा गया था और इसका प्रसारण सर्वप्रथम आकाशवाणी के केन्द्र इलाहाबाद से किया गया। मोहन राकेश का बहुचर्चित नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' भी मूलतः आकाशवाणी के लिए ही लिखा गया नाटक हैं, जिसका सर्वप्रथम प्रसारण जालन्धर से किया गया। 'कोणार्क' भी मूलतः रेडियो के लिए लिखा गया नाटक है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा जयशंकर प्रसाद की तरह ही मोहन राकेश ने भी हिन्दी नाटक को एक नया मोड़ दिया। 'आधे-अधूरे', 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' नाटक में राकेश ने उन साहित्यिक गुणों को प्रतिष्ठित किया जिनको यथार्थवादी नाट्य-लेखन ने हिन्दी नाटक साहित्य से निर्वासित कर दिया था। साहित्यिक गुणों के कारण ही प्रसाद के नाटकों को अनभिनेय माना गया किन्तु मोहन राकेश के तीनों नाटक रंगमंच पर सफलता से खेले गये। राकेश के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व को आधुनिक भंगिमा दी गयी है और पात्रों का गहरा चित्रांकन हुआ है। आज के महानगरीय जीवन का ही वस्तु-संदर्भ 'आधे-अधूरे' में हैं जिसमें व्यक्ति आत्मनिर्वासन की हद तक असहाय हो जाता है।

एबसर्ड या असंगत नाटकों की परम्परा भुवनेश्वर से शुरू होती है।

ऊसर और 'तांबे का कीड़ा' इनके प्रमुख नाटक हैं। इसके अलावा विपिन कुमार अग्रवाल कृत 'तीन अपाहिज', लक्ष्मीकान्त वर्मा कृत 'रोशनी एक नदी', सत्यव्रत सिंहा का कृत 'अमृत पुत्र' आदि शामिल हैं। ये नाटक समाज के एक 'विशेष वर्ग' का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सातवें दशक के नाटककारों ने 'व्यवस्था विरोधी नाटक' का सूत्रपात किया क्योंकि 1967 में नक्सलवादी आन्दोलन प्रारम्भ होता है और इसी समय कई राज्यों में कांग्रेसी सरकार का पतन हुआ। इस दशक के नाटक और रंगमंच में दो प्रवृत्तियां उभरती हैं – इनमें व्यवस्था विरोध की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल थी। ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग' नाटक बकायदा व्यवस्था विरोधी नाटक है। इसके अलावा शिवप्रसाद सिंह कृत 'घाटियाँ गूँजती हैं', ललित सहगल कृत 'हत्या एक आधार की' ब्रजमोहन साह कृत 'सिंहासन खाली है', शरद जोशी कृत 'अंधों का हाथी' आदि ऐसे ही व्यवस्था विरोधी नाटक हैं।

दूसरी प्रवृत्ति स्त्री–पुरुष सम्बन्धों में आए तनाव एवं यौन कुण्ठाओं की उभरी। सुरेन्द्र वर्मा कृत 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' एवं रमेश बक्षी कृत 'देवयानी का कहना है' इत्यादि नाटकों में उपरोक्त प्रवृत्तियां दिखती हैं। मृदुला गर्ग कृत 'एक और अजनबी की पूरी कहानी' सेक्स के इर्द–गिर्द ही केन्द्रित है। इसी प्रकार मन्नू भण्डारी कृत 'बिना दीवारों का घर' में अनुभूति का तीखापन है।

आठवें दशक में व्यवस्था विरोधी नाट्य लेखन में मार्क्सवादी रचनाकार भी जुड़ते हैं। जिनमें भीष्म साहनी प्रमुख हस्ताक्षर हैं। 'हानुश', 'कबीरा खड़ा बाजार में', और 'माधवी' जैसे नाटक इन्होंने लिखे। अस्सी के दशक में ही नुक्कड़ नाट्य आंदोलन भी शुरू हुआ यह रंगमंच का जनवादीकरण था। इससे रंगमंच की औपचारिकताएं खत्म होने लगीं। नुक्कड़ नाटक कहीं भी और कभी भी खेले जा सकते हैं। इसीलिए इसमें पर्दा, मंच एवं प्रकाश व्यवस्था की आवश्यकता नहीं रही। नुक्कड़ नाटककारों में प्रमुख नाम रमेश उपाध्याय, असगर वजाहत, सुरेश कान्टक, राजेश कुमार, शिवराम, हरीश मदानी, इत्यादि नाटककारों का

नाम आता है। इसी समय हाशिये पर पड़े हुए लोगों को लेकर भी माता प्रसाद कृत 'वीरांगाना झलकारी बाई', 'अछूत का बेटा', 'प्रतिशोध', 'अंतहीन बेड़ियां' तथा ओम प्रकाश वाल्मीकि कृत 'दो चेहरे', 'ढोल की पोल' इत्यादि नाटक लिखे गये।

आधुनिक काल से पूर्व रामलीला एवं रासलीला जहां तुलसी साहित्य एवं कृष्णकथा साहित्य के माध्यम से समाज से तो जुड़ते ही हैं, साथ ही साथ साहित्यिक और रंगमंचीय प्रतिष्ठा भी प्रदान करते हैं। वहीं दूसरी तरफ 'विदापन', 'कीर्तनिया', 'आल्हा–ऊदल' भी नाटक या रंगमंच के ही प्राचीन रूप हैं। इन समस्त रूप विधानों ने नाटक को नित नये आयाम दिया है। समय के साथ बदलते सामाजिक मूल्य, विचारधाराओं ने नाटक को उत्तरोत्तर विकसित किया है और करता रहेगा। नाटक भी समाज की नब्ज को पकड़ते हुए अपने कलेवर में निरंतर परिवर्तन कर अग्रसर होता रहा है, साथ ही साहित्य में नित नये प्रतिमान स्थापित किये हैं।

संदर्भ

1. 'धर्मवीर स्मृति' हिन्दी महिमा व्याख्यान माला : पांचवा व्याख्यान, हिन्दी भवन, दिल्ली, 29 सितम्बर, 2006
2. वही

हिन्दी नाटकों और रंगमंच का मूल आधार आम आदमी

आरती झा

काव्य निबंध पात्रों की अवस्थाओं के अनुकरण को नाटक कहा जाता है। नाट्य शास्त्र के अनुसार इसमें सातों द्वीपों के निवासियों, देवताओं, असुरों, राजाओं, ऋषियों, गृहस्थों आदि के कार्यों और चरित्रों का अनुकरण किया जाता है। इस प्रकार नाटक का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उसे देखने और उसमें कार्य करने का सबको अधिकार है। भरत का स्वप्न भी यही था। भरत को सर्वहारावर्ग का प्रतिनिधि माना जाता है। नाट्य शास्त्र के रचयिता भरत मुनि माने जाते हैं। भरत एक मूल जनजाति थे जो अपनी भक्ति और ज्ञान से इतने महान थे कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, समाज और राजनीति पर छाये हुए थे। कालान्तर में ब्राह्मणवादियों ने भरतों को शूद्र घोषित कर वीरता गायन तक सीमित कर दिया । नाट्यशास्त्र में भरत शब्द का प्रयोग अभिनेताओं और नाट्यमण्डली के रूप में हुआ है।

कालान्तर में सामन्तवादियों की विलासवृत्ति के शमन हेतु नाटक में कौशिकी वृत्ति का समाहार करना पड़ा और अनार्य वर्ग की स्त्रियों (अप्सराओं) को इनका आधार बनना पड़ा। नाटक आम आदमी से विशिष्ट व्यक्ति के हाथ में चला गया। श्रमजीवियों के हाथ से निकलकर नाटक पूँजीपतियों और सामंतों की थाती बन गया। नाटक का आम रूप,

खास हो गया और वह एक वर्ग की बपौती बन गया। रंगमंच प्रपंचों और आडम्बरों का ऐसा भण्डार बन गया, जहां तक आम आदमी की पहुंच असम्भव हो गई। शायद इसलिए नाटक के दो भाग हो गए नाट्यधर्मी और लोकधर्मी तथा रंगमंच के तीन वर्ग हुए-देवताओं के लिए, राजाओं के लिए और सामान्य जनों के लिए। इस प्रकार नाटक आम आदमी की झोपड़ी से निकलकर धनाढ्यों की तिजोरी में जा बैठा और धर्म की कड़ी सलाखों में कैद कर दिया गया।

अब नाटक के मूल्य बदल गए हैं और बदल रहे हैं। अब लोक अनुकृति को नाटक के सजीव पात्रों द्वारा चलता-फिरता प्राणवंत रूप प्रदान किया जाने लगा है। नाटक जीवन की मात्र सांस्कृतिक अनुकृति नहीं, वरन् सजीव प्रतिलिपि है। वह फैले हुए जीवन व्यापार को ऐसी व्यवस्था के साथ रखता है जिससे वह अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सके। भरत ने भी यही स्वीकार किया था कि नाटक का सम्बंध आम आदमी से है। जिन लोगों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था, उनके लिये पंचम वेद का निर्माण किया गया था।

दार्शनिक कांट ने इसीलिए कहा है कि जिस कला का सम्बंध सर्वहारा वर्ग से है, वही नाटक है। भारतीय और पाश्चात्य नाटकों की व्युत्पत्ति भी यही सिद्ध करती है कि आदमी जब बहुत अधिक व्यस्त रहने लगा, तब उसके मनोरंजनार्थ नाटक का जन्म हुआ। अनाथों की जिन्दगी भी ऐसी ही हो गई थी। बड़े-बड़े कारखानों, छोटे-छोटे लघु उद्योग धन्धों और खेतों में दिनभर कड़ी मेहनत करने उत्पादन करने में व्यस्त रहता हुआ आदमी जब रात्रि को अवकाश पाता था तब थकान मिटाने के लिए नाटक, नृत्य और नृत्य प्रदर्शन द्वारा अपना मनोरंजन करता था। नाटक पूर्णतः आम आदमी के लिए सर्वव्यापक और सार्वभौमिक थे।[1]

आज युगीन परिस्थिति बदली है, नये तेवर हैं। संवेदनाएँ आदर्श का आवरण छोड़ रही हैं। अब नाटक को यथार्थ के कठोर धरातल पर कदम रखने होंगे। विज्ञान के नित नये आविष्कार होने से थोथी धार्मिक

मान्यताओं पर से पर्दा उठ रहा है। हर आदमी पंक्ति में खड़ा अपनी बारी का इंतजार कर रहा है। सभी ओर स्वार्थ ही स्वार्थ, अनुभव कर रहा है, उसे किसी की सहानुभूति नहीं मिलती, सारे सम्बंध और सम्बंधों पर से विश्वास उठ रहा है। वह अपने को खोज रहा है जैसे कस्तूरी मृग कस्तूरी खोलता है वैसे ही वह अपने को ही ढूंढ रहा है। घोर व्यक्तिवाद से विद्रोह पनप रहा है चाहे किसी को धक्का मारते हुए ही न निकलना पड़े। लोग निराश होकर आत्महत्या कर रहे हैं। सुबह कानून बनते हैं शाम तक टूट जाते हैं। कानून शक्तिशालियों के लिए हो गया है। लाभ कमाने के लिए बाजार से वस्तुएँ गायब हो रही हैं और अति मूल्य पर बेची जा रही हैं। पूँजीपति आवश्यक वस्तुएँ न बनाकर अपनी सात पीढ़ियों के लिए उपक्रम कर रहे हैं, उन्हें अर्थ से घोर प्रेम हो गया है।

सरकार निष्क्रिय है और भ्रष्टाचार का बोलबाला है। गोपनीय फाइलों की चर्चा अखबारों में होती है। आम आदमी फाइलों में कैद है। नैतिकताओं के स्थान पर अनैतिकताओं पर लोगों का विश्वास बढ़ रहा है। नाटकों में नायकों के स्थान पर खलनायकों का प्रभुत्व व आकर्षण बढ़ रहा है। इस परिस्थिति में नाटकों को भी युगानुरूप प्रस्तुति देनी होगी, उसे बदलना ही होगा। नाटक को आम आदमी तक पहुँचाना होगा और उससे ही सम्बंधित होना पड़ेगा। उसे लोक जीवन तक पहुँच बनाकर लोकजीवी बनना होगा। नाटकों को आदर्श की भाव भूमि से उतरकर यथार्थ की कठोर भूमि पर कदम रखने होंगे । उसे इतिहास की सच्चाईयों की परख करनी होगी ।

आज का गरीब झोपड़े में रहता है फिर भी लुटता रहा है। मध्यवर्ग भी अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए लुट रहा है। नाटककार को भी लुटने वालों की सुननी होगी, उन तक पहुँचना होगा। यथार्थ के स्थान पर उसे द्वन्द्वात्मक यथार्थ की ओर जाना होगा, उसे कुछ आदर्शों से परे हटना होगा। प्रेमचंद जीवन भर लिखते रहे, आदर्श चरित्र गढ़ते रहे, अपने उपन्यासों में जाने कितनी समस्याओं को उजागर करते रहे पर क्या हुआ? उनकी अंतिम अवस्था में उनके सभी आदर्श पूस की ठंडी रात में कफन के नीचे दफन हो गए । गोदान का होरी जीवन भर जिंदगी से लड़ता रहा

पर उसे लड़ते-लड़ते ही दम तोड़ना पड़ा। इसलिए अब नाटकों को यथार्थ और संघर्ष से जुड़ना होगा। नाटककार को अब इसकी चिन्ता नहीं करनी होगी कि नाटक दुःखांत बनेगा कि सुखांत होगा, जो भी होगा यथार्थ से जुड़ा होगा।

आज सबसे बड़ी आवश्यकता नाटक को जीने योग्य बनाने की है आम आदमी को रंगमंच तक पहुँचना और उतरना होगा । जिस वस्तु और भाव से हम घृणा करते हैं और जिसे हम घृणास्पद समझते हैं उसे भी अब पूरे घिनौनेपन के साथ ही रंगमंच पर लाना होगा। उसे पूरी असलियत के साथ प्रस्तुत होना होगा। नाटक केवल सुख के लिए ही नही होता। जीवन की कटु सच्चाई तो दुःख में दिखाई देती है। नायक हमेशा ही नहीं जीता उसे हारना भी होता है। इसलिए नाटकों की विषय-वस्तु पलायनवादी और आदर्श से हट के भी हो सकती है। आज के नाटकों में नायकों के चरित्र वे स्वयं बनाते और बिगाड़ते हैं। नाटक की भाषा भी आम आदमी की होनी चाहिए ऐसा नहीं कि उसे कोई प्रबुद्धजन ही समझ सकें। नाटकों को शास्त्रीय बंधनों से निकलकर मुक्त होना होगा।

प्राचीन नाटकों के नायक रूढ़िवादी और कुंठित व्यक्तित्व के होते हैं पर आज ऐसे नाटक रूढ़ हो चुके हैं। आज ऐसे नाटकों की आवश्यकता है जिसमें नायक अपनी गतिविधियों से सम्पूर्ण वातावरण, प्रतिक्रिया, सामाजिक उद्देश्य और जीवन की विभिन्न मान्यताओं को अपने में समेट सके। प्राचीनकाल में नायक विशिष्ट व्यक्ति ही हो सकता था पर आज नाटक का नायक एक साधारण वर्ग का आदमी हो सकता है। आज नाटकों के प्रभाव और प्रदर्शन में बेहतरी लाने के लिए ऐसे ही नायकों की आवश्यकता है।

नाटकों में व्यक्तिवादिता के स्थान पर सामूहिक भाव निहित होते हैं। लोकमानस की विभिन्न मान्यताओं, संस्कारों, प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का समष्टि रूप ही सामूहिक भाव है। नाटक को रसवादी के स्थान पर कर्मवादी होना चाहिए क्योंकि नाटक समाज सापेक्ष होते हैं। आज तो ऐसे

नाटकों की आवश्यकता है जो मानव को अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरूक करे ये ही जन नाट्य कहे जा सकते हैं। जन नाट्य वही हो सकते हैं जो जनता के जीवन मूल्यों और जीवन आदर्शों को प्रविष्टि करने में समर्थ हो सके। जो जनता को अज्ञानता से मुक्त कर सके और राजनीति के धोखेपन से मुक्ति दिला सकें। इस प्रकार आज के नाटक जनवादी होने चाहिए। यही आज के युग की पुकार है।

आज नाटकों को 'जननाट्य' बनना होगा । वैसे भी आज के नाटक 'जन नाट्य' बनने के लिए छटपटा रहे हैं। आज आम आदमी को मंच पर उतरना होगा क्योंकि वही युगीन परिस्थिति, तेवर और अभिरुचि को पहचानता है। समाज को यथार्थ का दर्पण वही नाटक दिखा सकते हैं जो लोकधर्मी हो, लोकधुनों पर आधारित हो और मनुष्य के उदार रूप को उभारने में प्रयासरत हों। आचार्य भरत मुनि जननाट्यों के प्रति विशेष अनुभूत थे। इसीलिए उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है कि नाटक की वास्तविकता प्रेरणा, भूमि और कसौटी लोकचित्त ही है। नाट्यशास्त्र के 26वें अध्याय में उन्होंने कहा है कि दुनिया यहीं समाप्त नहीं हो जाती। इस स्थावर जंगम चराचर सृष्टि का कोई भी शास्त्र कहाँ तक हिसाब बता सकता है। लोक में न जाने कितनी प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। नाटक चाहे वेद से या अध्यात्म्य से उत्पन्न हो, तो भी वह तभी सिद्ध होता है, जब लोकसिद्ध हो क्योंकि नाट्य लोक-स्वभाव से उत्पन्न होता है। इसलिए नाट्य प्रयोग में लोक ही सबसे बड़ा प्रमाण है।

उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि जो शास्त्र, जो धर्म, जो शिष्य और जो क्रियाएँ लोक धर्म प्रवृत्त हैं, वे ही नाट्य कही जाती हैं। वस्तुतः नाटक का मूल अर्थ ही है-जीवन को रंगमंच पर उतार देना और जो नाटककार जितनी सूक्ष्मता से लोक जीवन को मंच पर प्रस्तुत कर देता है, वह और उसकी रचना उतनी ही प्रभावशाली और स्थायित्व लिए होती है। इसलिए नाटकों को अपने बेहतरी प्रदर्शन के लिए राजनीति के नग्न चित्र, समाज के रूढ़िवादी शक्तियों का प्रतिरोध करना होगा व हास्य, व्यंग्य, वक्रोक्ति का सहारा लेकर आम आदमी के ही द्वारा खोखली मान्यताओं और परम्पराओं की पोल खोलना होगा। जनसमस्याओं को समझकर उसे

रोचक ढ़ंग से प्रस्तुत कर जन मानस की समस्या को समझने और उसका समाधान करने हेतु तत्पर करना होगा।

आज नाटक केवल हंसने-रोने के लिए ही नहीं है वे किसी क्याइमेक्स पर भी समाप्त हो सकते हैं। दर्शकों को क्लाइमेक्स तक पहुँचाने, तिलमिलाहट और बेचैनी उत्पन्न करने वाले नाटकों की आज नितांत आवश्यकता है। नाटकों के बेहतरीन प्रदर्शन में सर्वप्रथम नाटक का कथानक और स्वरूप महत्वपूर्ण है तत्पश्चात् नाटकीय पात्रा, अभिनय, रंगमंच तथा सहृदय या प्रेक्षक आते हैं ।

आज नाटकों को अपना स्वरूप बदलना होगा, अपना कथानक नया रचना होगा। आज नाटकों का शास्त्रीय स्वरूप बेमानी हो गया है उसे एक नए रूप में आना होगा। उसे जीवन के अनेक संदर्भों और संघर्षों को समझकर परिस्थिति पर भी दृष्टि रखनी होगी। कथानक को अतिबौद्धिकता से बचना होगा अन्यथा वह दुखद हो सकता है। कथानक की भाषा अभिव्यक्ति को प्रकट करने में सक्षम हो। यह चमत्कार उत्पन्न करने के लिए न हो बल्कि जीवन और समाज के संघर्ष को व्यक्त करने वाली हो, यथार्थ के निकट हो और सामयिक चेतना से संदर्भित हो आज ऐसे नाटकों की आवश्यकता है जो समाज और व्यक्ति की तड़फड़ाहट, पीड़ा, सुविधा, मान्यता और आचरण को ठीक उसी रूप में प्रस्तुत करे जैसा कि वह है, न वह किसी की वकालत करे और न वह किसी तरह का निर्णय दे। इसे वह सहृदयों, प्रेक्षकों और पाठकों के लिए छोड़ दें।

किसी भी नाटक की सफलता में उसके पात्रों का ही योगदान होता है। सही पात्रों का चयन कर नाट्य-व्यापार के अनुरूप उन्हें इकट्ठा कर पाना बड़ी टेढ़ी खीर है। पात्रों को अभिनय कला में निपुण, परिश्रमी, कल्पनाशील तथा प्रतिभावान होना चाहिए। हिन्दी रंगमंच पर ऐसी प्रतिभाएँ आगे जरूरी है जो जीवन की जटिल, संश्लिष्ट तथा बहुआयामी अनुभूतियों को सफलता से अभिनीत कर सकें। फिल्मी पात्रों का अभिनय सामान्यतः अतिरंजनापूर्ण, एक आयामी और सस्ता सा होता है। आज के दौर में मानव मन की सूक्ष्म अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने

के लिए सशक्त पात्रों की आवश्यकता है। हर नाटक के लिए उपयुक्त पात्र कैसा हो? पात्रों को विशेष अभिनय प्रशिक्षण की सुविधा होनी चाहिए ताकि वह विशिष्ट चरित्र के अनुसार अपने आप को ढाल सकें और अपने अभिनय में सुधार ला सकें ।

नाटकों में अभिनय नाटक का प्रमुख तत्व होता है। कहा जाता है कि अभिनय का आरंभ सृष्टि के साथ ही हुआ है। अभिनय शब्द की परिभाषा नाट्य शास्त्र में इस प्रकार की गई है- जिसके सांगोपांग प्रयोग द्वारा, नाट्य के अनेक अर्थों का, श्रोताओं को हृदय से रसास्वादन कराया जाये, उसे अभिनय कहते हैं। नाटक चाहे किसी भी रूप का हो अभिनय के बिना उसकी फल प्राप्ति संभव ही नहीं है। अभिनय में अनुकरण होता है जो आंगिक, वाचिक, भावात्मक, क्रियात्मक, चेष्टाओं, संकेतों और हाव-भावों का हो सकता है। सही अभिनय से ही प्रेक्षकों और श्रोताओं को यथार्थ की अनुभूति हो सकती है। वह एक कमरे से शुरू होकर एक कमरे में ही समाप्त हो सकता है। प्रतीक द्वारा सड़क पर या किसी कोने में भी कमरे का आभास कराकर भी अभिनय हो सकता है। अभिनय को टुकड़ों में नहीं देखा-परखा जा सकता है वह सम्मिलित प्रभाव होता है। आज के अभिनय का मूल कार्य मानव को रूढ़ियों और भ्रांतियों से मुक्त कराने वाला होना चाहिए।

प्रत्येक देश और प्रत्येक युग में रंगमंच की स्थितियाँ नाटक कला के स्वरूप और प्रभाव को निर्धारित करती हैं। हर नाटक हर प्रकार के रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। नाटककार अपनी रचना के द्वारा कच्चा माल ही देता है जिसे रंगमंच पक्के माल के रूप में प्रस्तुत करता है। रंगमंच का मूल आधार अनुभूति की वस्तुगत अभिव्यक्ति होता है। रंगमंच किसी नाटक की सफलता का मूलाधार होता है। रंगमंच ऐसा होना चाहिए जो स्थायी हो, भित्तियाँ सुव्यवस्थित हो, जिसमें दृश्य और भाव के अनुसार प्रकाश, संगीत और ध्वनि उपलब्ध करने की सुविधा हो और प्रेक्षकों के लिए आरामदायक आसन हो। ऐसे रंगमंच पर नाटकों का अभिनय करना और देखना दोनों ही उपयुक्त भावानुभूति में सहायक होगा। इसलिए किसी भी नाटक के प्रस्तुतीकरण में उचित रंगमंच का

होना आवश्यक है । नाटक को तभी प्रभावशाली और विशिष्ट बनाया जा सकता है जब उसके अनुरूप रंगमंच हो ।

हर नाटक का अपना एक सामाजिक पक्ष होता है। नाटक का जब सृजन होता है तब उसका कुछ उद्देश्य भी होता है। उस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसे समाज रूपी प्रयोगशाला में परीक्षण करना होता है। परीक्षण यदि सफल होता है तो नाटक अच्छा है । असफल होने पर उसे नकार भी दिया जाता है। कोई भी नाट्य रचना अपने मंचन के माध्यम से प्रेक्षक, सहृदय या दर्शक तक पहुँचती है। प्रेक्षक रूपी न्यायाधीश द्वारा ही रचना सफल-विफल होती है। श्री नेमिचंद जैन का कथन है कि 'रंगमंच पर प्रदर्शित नाटक प्रेक्षकों का रंजन करके ही सम्पूर्ण और सफल होता है और अपना उद्देश्य पूरा करता है।

प्रसिद्ध मराठी नाटककार विजय तेंदुलकर के भी विचार कुछ इसी प्रकार हैं- विशिष्टतः दर्शकों की और सामान्यतः समाज की रुचियाँ ही किसी भी नाट्यकृति के मंचित करने अथवा उसे रंगशाला से बाहर फेंकने की कसौटी होनी चाहिए।

यदि देखा जाये तो प्रेक्षक ही निर्णायक है। प्रेक्षक न हो तो अभिनेता अभिनय किसके लिए करेंगे? प्रेक्षकों का मनोरंजन करना ही तो हर नाटक का अंतिम उद्देश्य होता है। प्रेक्षक ही रंगभूमि में समाज का प्रतिनिधि होता है इसलिए उसे सामाजिक भी कहा गया है। सामाजिक ही रंगमंच को प्रभावित करने वाला कारक है। वही समालोचक है, वही पूरक भी है। कल्पना की जाए कि रंगमंच पर नाटक की प्रस्तुति हो रही हो और दर्शक ही न हो तो? ऐसा नाट्य प्रदर्शन किस काम का होगा। हर नाटक का उद्देश्य प्रदर्शन होता है। प्रेक्षकों के बिना नाट्य-प्रदर्शन प्रयोजनहीन होता है। प्रेक्षक की भी कुछ अर्हताएँ होती हैं। आदर्श प्रेक्षक वह हो सकता है जो स्वस्थ इंद्रिय, रागप्रवण, संवेदनशील, समस्त विषयों का सामान्य जानकार होना चाहिए। उसे शब्द पारखी और अर्थ मर्मज्ञ भी होना चाहिए। युगबोध, सौन्दर्यबोध, नाट्यसमीक्षा पद्धति तथा रंग प्रक्रिया से मानसिक सम्पर्क रखने वाला प्रबुद्ध प्रेक्षक ही नाटक और रंगमंच को

सही दिशा-निर्देश देने वाला होता है। प्रेक्षकों के बिना नाट्य-प्रदर्शन प्रयोजनहीन होता है। इस प्रकार किसी भी नाटक की सफलता प्रेक्षकों पर ही होती है। नाटकों का बेहतरीन प्रदर्शन भी उचित प्रेक्षकों की उपस्थिति में ही हो सकता है।

नाटक साहित्य की समस्त विधाओं में सर्वाधिक सामाजिक है। हर परिवर्तन से नाटक ही सर्वाधिक प्रभावित होता है। वही आम आदमी के सबसे निकट होता है। जीवन स्वयं अविराम चलने वाला नाटक माना गया है और इस जीवन के सृष्टा को ही मूल नाटककार और निर्देशक माना गया है। इस प्रकार नाटक सृष्टि के मूल से ही चल रहा है। वह आदमी की पहचान है। जब-जब आम आदमी से निसृत यह नाटक ज्यों-ज्यों उससे दूर होता गया, उसका अस्तित्व खतरे में पड़ गया और रंगमंच से भी दूर हट गया और जब-जब उसने आम आदमी को अपने घेरे में बांधने की कोशिश की, वह समृद्ध हुआ । इसलिए नाटक की बेहतरी इसी में है कि वह जन साधारण तक पहुँचने का प्रयास करें।

संदर्भ ग्रंथ

1. रंगमंच की भूमिका और हिन्दी नाटक, रघुवर दयाल वार्ष्णेय
2. नेमीचंद जैन, रंगदर्शन, प्रथम संस्करण पृष्ठ 10
3. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि
4. रंग-प्रक्रिया के विविध आयाम, सम्पादक प्रेम सिंह
5. रंगमंच का जनतंत्र, हृषीकेश सुलभ

आगा हश्र काश्मीरी के नाटकों में समाज-बोध

बीरेन्द्र सिंह

नाटक गद्य साहित्य की एक सशक्त विधा है। यह अपने स्वरूप में कविता और कहानी से ज्यादा सामाजिक और समाज-सापेक्ष है। जीवन यथार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव कराने के कारण ही यह अन्य विधाओं की तुलना में अधिक प्रभावकारी होता है। हिन्दी साहित्य में नाटक के उदय का विवेचन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि – "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।"[1] किन्तु हम देखते है कि 19वी सदी के उतरार्द्ध में नाटकों का उदय होना 'विलक्षण' से ज्यादा सामान्य घटना है। इसका उदय अपने सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकता के अनुरूप ही हुआ था। जिस काल को सामान्यतः पुनर्जागरण कहकर पुकारा जाता है, उस समय के विद्वानों ने सामाजिकता की भावना पर विशेष बल दिया था। जनता को जागरूक बनाने के लिए विभिन्न उपाय किये गए थे। नाट्य साहित्य ने भी इसमें अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी के अनुसार – "नाटक से बढ़कर ऐसा दूसरा उपाय नहीं है जिससे सर्वसाधारण को सामाजिक दशा का वर्तमान चित्र दिखाकर उसका पूरा-पूरा सुधार किया जाए।"[2]

अत: अपने समय की आवश्यकता के अनुकूल ही भारतेन्दु युग के रचनाकारों का नाटक के प्रति रुझान देखने को मिलता है। भारतेन्दु युग में एक ओर जहाँ उद्देश्यपूर्ण नाटक लिखे गए, वहीं दूसरी ओर ऐसे नाटक भी लिखे गये जिसका मूल उद्देश्य लोगों का मनोरंजन करके आर्थिक लाभ कमाना था। ये नाटक पारसी थियेटर के लिए लिखे गए। पारसी थियेटर के लिए लिखे गए नाटकों को पारसी नाटक कहा जाता है। पारसी रंगमंच एवं नाटकों के सामाजिक महत्त्व तथा उसके प्रभाव को लेकर हिन्दी साहित्य के विद्वानों में शुरू से ही एक नकारात्मक दृष्टिकोण रहा है। उन्होंने इसे सफल तो माना है, किन्तु सार्थक नहीं।

यह एक विरोधाभास ही है कि जिस रंगमंच को विद्वानों एवं नाट्यलोचकों द्वारा असामाजिक कहकर नकार दिया गया, उसे हिन्दी क्षेत्र की जनता ने सबसे ज्यादा पसंद किया। 'पारसी थियेटर' शीर्षक देकर सन् 1903 ई. में बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है कि "हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका यह पारसी थियेटर है जो दर्शको को आशिकी-माशुकी का लुत्फ हासिल करने का बड़ा अच्छा जरिया है- क्या मजाल जो तमाशबीनों को कहीं से किसी बात में पुराने हिन्दुआनी की झलक मन में आने पावे ....।"[3] किन्तु पारसी रंगमंच केवल भद्दा मनोरंजन और कामोद्दीपक दृश्यों का पिटारा ही नहीं था, जिसके लिए जनता इसे इतना पसन्द करती थी। इसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण था- रंगमंच के प्रति इनकी गम्भीर सक्रियता, दृढ़ संगठन और सबसे महत्त्वपूर्ण इनका नाट्य लेखन, जिसके द्वारा नाट्य प्रदर्शन के नये मानदण्ड सामने आए।

पारसी नाट्य लेखन के क्षेत्र में आगा हश्र काश्मीरी, नारायण प्रसाद बेताब, राधेश्याम 'कथावाचक', तालिब 'बनारसी' आदि ऐसे कई नाम हैं जिन्होंने अपने नाटकों को विषयवस्तु एवं शिल्प के स्तर पर समसमयिक तथा युगीन चेतना से जोड़कर पारसी रंगमंच को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण बनाया। अत: इनके नाटक समाजबोध की दृष्टि से भी उतने ही महत्त्वपूर्ण है, जितने की मनोरंजन की दृष्टि से। अवधारणा के रूप में समाजबोध का अपना एक विशेष महत्त्व है। 'बोध' शब्द संस्कृत के 'बुध' धातु से बना है जिसका अर्थ है - जानना। समाजबोध एक प्रकार

से समाज की परिस्थितियों का ज्ञान है। किसी भी साहित्य में समाज बोध का अर्थ है सामाजिक जीवन के प्रति रचनाकार द्वारा साहित्य में प्रस्तुत सामाजिक दृष्टिकोण। यह एक तरह से समस्त मानवीय व्यापार को देखने परखने का मूल मंत्र है।

पारसी नाटककार आगा हश्र काश्मीरी का रचनाकाल 1899 से 1930 ई. के बीच का है। इस दौरान इन्होंने लगभग 28 नाटकों की रचना की है। 'सफेद खून', 'खूबसूरत बला', 'सिलवर किंग', 'यहूदी की लड़की', 'आँख का नशा', 'बिल्वा मंगल', 'सीता-बनवास', 'रूस्तम-ओ-सोहराब' आदि ऐसे नाटक हैं जिसमें इन्होंने मानवीय संवेदना का पक्ष गहरे रूप में उद्घाटित किया है। इनके नाटक एक ओर जहाँ पारसी थियेटर की व्यवसायिकता को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं, वहीं दूसरी ओर ये समाज सुधार एवं राष्ट्रीय चेतना की भावना से भी ओत-प्रोत है। इनके द्वारा रचित नाटको में नैतिक आदर्श, स्त्रियों की पराधीन स्थिति तथा वेश्यागमन, जुआ, मधुपान तथा विसंगति के दुष्प्रभाव आदि का चित्रण हुआ है। इसके साथ ही देश-भक्ति, सांप्रदायिक एकता, प्रेम एवं राष्ट्रीयता की भावना भी इनके नाटकों में देखने को मिलता है।

आगा हश्र काश्मीरी ने सामाजिक पौराणिक-धार्मिक तथा ऐतिहासिक आदि सभी प्रकार के नाटको की रचना की है। इन नाटकों में पात्रों के माध्यम से नैतिक आदर्श पर बल दिया गया है। प्रेमचंद ने व्यक्ति के स्वभाव के संदर्भ में कहा है कि "बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता; उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है- यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।"[4] अत: देवत्व का यह विकास आगा हश्र काश्मीरी के पात्रों में भी देखने को मिलता है। इन्होंने अपने कई नाटको में पात्रों का हृदय परिवर्तन कराकर 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का समर्थन किया है। 'सिल्वर किंग' में अफजल 'बिल्वा मंगल' में बिल्वा मंगल, 'यहुदी की लड़की' में ब्रुटस तथा 'आँख का नशा' में जुगल आदि पात्र को इस संदर्भ में देखा जा सकता है।

आगा हश्र काश्मीरी ने अपने नाटकों में स्त्री पात्रों को बड़े ही सशक्त ढंग से उपस्थित किया है। यहाँ स्त्री के कई रूप देखने को मिलते हैं जैसे पत्नी, प्रेमिका, वेश्या, सेविका, देशभक्त आदि। नाटक में

स्त्री जहाँ प्रेमिका के रूप में आई है, वहाँ हम उसे अपने प्यार में सबकुछ त्याग करने के लिए तैयार देखते है। 'यहुदी की लड़की' नाटक की राहील एक ऐसी ही पात्र है। इसी प्रकार 'आँख का नाशा' में सरोजनी, 'सिल्वर किंग' में परवीन, 'बिलवा मंगल' में रम्भा को पतिव्रता, कोमलता एवं सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति के रूप में दिखाया गया है, जो अंत में अपने पति को वेश्यागमन, जुआ, मद्यपान आदि दुष्प्रवशतियों से मुक्त कराती हैं। इसके अतिरिक्त 'रूस्तम-ओ-सोहराब' में आफ़रीद एक ऐसी स्त्री के रूप में आई है जिसके लिए अपने वतन से बढ़कर कुछ भी नहीं है। आफ़रीद की मृत्यु के पश्चात सोहराब उससे कहता है- "प्यारी आफ़रीद! तूने फ़र्ज पर मुहब्बत को और मूल्क पर जिन्दगी को कुर्बान करके इंसानों को सिखा दिया कि दुनियां में किस तरह जीना और किस तरह मरना चाहिए।"[5] इस नाटक में सोहराब की माँ तहमीना भी बहादुरी में किसी पुरुष से कम नहीं है। वह पीलसम को ललकारते हुए कहती है-

''मर्द है तो तू अपनी गैरत को जरा ललकार दे।
एक तू तलवार ले और एक मुझे तलवार दे॥''[6]

आगा हश्र काश्मीरी अपने समय एवं समाज में स्त्रियों की पराधीन स्थिति एवं उसके कारणों से परिचित थे। इनके द्वारा रचित 'सीता बनवास' एक धार्मिक पौराणिक नाटक है। किन्तु सीता की दशा देखकर नाटककार यहाँ मौन नहीं रहता। प्रस्तुत नाटक में रजकी(धोबिन) के माध्यम से संभवतः पहली बार समस्त पुरुष जाति को धिक्कारते हुए कहा गया है-

''सत्य रूपी छल कुटिलता पुण्य रूपी पाप है।
इस जगत के पुरूष जाति ईश्वर का श्राप है॥''[7]

इनके नाटको में स्त्री के वेश्या रूप का भी चित्रण हुआ है। कोई भी वेश्या अपनी मर्जी से नहीं बनती, बल्कि समाज उसे इसके लिए मजबूर करता है। 'आँख का नशा' नाटक में वेश्या के मानवसुलभ रूप को दिखाया गया है। वह वेश्या बनने के पीछे की विवशता का उल्लेख करते हुए कहती है- "कामिनी: (स्वगत): दुनिया मे सब कहते है के पाप बुरा है। लेकिन ये कोई नहीं सोचता कि दुनिया में पाप क्यों है? आज मेरे पास दो मुठ्ठी अन्न का सहारा होता है तो क्या मैं रूप का दीपक लेकर पाप के अंधेरे में रोटी ढूंढने निकलती? ऐ दुनिया के लोगों किसी स्त्री को निर्लज्जता के बाजार में देखकर उसके दुख जाने बिना क्रोध न करो। स्त्री के सर्वनाश का सबसे बड़ा कारण भूख और गरीबी है। जब तक इस देश में भूख और गरीबी रहेगी, तब तक पाप भी रहेगा"[8]

आगा हश्र काश्मीरी भारत में अंग्रेजों द्वारा किए जा रहे शोषण से परिचित थे। अपनी सामाजिक भूमिका का निर्वाह करते हुए उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति के बरक्स हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृति को सामने रखने के लिए पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की रचना की तथा जनता में स्वदेशाभिमान की भावना को जगाया। शोषक वर्ग के चरित्र को उद्घाटित करते हुए वे लिखते हैं-

'रेत की बुनियाद पर दीवार है हर बात की।
बादशाहों की इनायत धूप है बरसात की।'[9]

आगा हश्र काश्मीरी ने अपने नाटकों मे मूल कथानक के साथ कामिक (प्रहसन) की योजना भी की है। इन कामिकों के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजी सभ्यता पर व्यंग्य भी किए है। यहुदी की लड़की का यह छोटा सा संवाद द्रष्टव्य है-

"**चम्पा :** वाह रे तेरे घटव्वल, अभी सर पर पड़े जबव्वल तो सीधा बरेली का रास्ता मालूम हो जाय है। ये क्या? तू उसी रुमाल से जूता साफ करता है, उसी से मुंह पोछता है।

घसीटा : कुछ फिक्र नहीं, जैन्टिलमैन का मुंह और जूता एक मुआफिक होता है।"[10]

इन्होंने अपने नाटको के माध्यम से साम्प्रदायिक समस्या को भी उठाया है। यहुदी की लड़की नाटक में यहुदी और रोमन जाति को सामने रखकर भारतीय समाज में हिन्दुओं और मुसलमानों के आपसी झगड़ों की ओर संकेत किया गया है तथा समाधान के रूप में प्रेम के माध्यम से मानवधर्म के प्रतिपादन पर बल दिया गया है। उनके अनुसार प्रेम एक

ऐसी भावना है, जो इंसान को इंसान के करीब लाता है। 'रूस्तम-ओ-सोहराब' में रूस्तम तहमीना को कहता है- "मुहब्बत खुदा के रहम की तरह जात और कौम को नहीं, सिर्फ दिल की खूबियों को पूछता है।"[11]

आगा हश्र काश्मीरी ने भारतीय समाज में एक स्त्री की विडम्बना को 'वन देवी' नाटक में दिखाया है जिसमें घर की बेटी को पराया धन समझकर बिना सोचे विचारे किसी के भी खूँटे में बाँध दिया जाता है। इसमें एक स्त्री पात्र प्रभावती पूछती है- "जब धन दान या गऊ दान करते समय सत्य पात्रा देखने की सख्त जरूरत है तो क्या कुंआरी कन्या जो गऊ से भी अधिक बेजबान जीता जागता धन है। केवल उसे दान देते समय माता-पिता सत्य पात्रा न देखे और ऐसे ही झोंक दे क्या ये उनका अन्याय नहीं है।"[12]

आगा हश्र काश्मीरी का रचना समय एक ओर राष्ट्रीय चेतना तथ दूसरी ओर पुनरुत्थानवादी चेतना व रुमानियत बोध का था। अतः इनकी नाट्य रचनाएँ भी इन्ही चीजों के इर्द-गिर्द होती है। दसअसल, उस समय यही सारा माहौल पारसी थियेटर का था। सैय्यद विकार अजीम ने अपनी किताब 'उर्दू ड्रामें फंन और मंजिले' में आगा हश्र काश्मीरी के नाट्य लेखन की समीझा करते हुए लिखा है कि- "आगा हश्र की ड्रामानिगारी के बेपायां मकबूलियत का यही राज है। उन्होंने अपने फ़न को जमाने के जरूरत के साँचे मे भी ढाला है और अपनी जुर्रत ओर ऐतमाद से फन को बराबर ऐसी शक्ल भी दी है कि वे जमाने के मजाक को बेहतर बनाता रहे।"[13]

आगा हश्र काश्मीरी पारसी थियेटर से जुड़े होकर भी किसी प्रकार की रूढ़ियों मे बधे हुए नाटककार नहीं थे। अपने समाज के प्रति प्रतिबद्ध होने के कारण इन्होंने नाट्य लेखन के क्षेंत्र में ऐसे प्रयोग भी किये जो कि पारसी थियेटर की प्रवृतियों के प्रतिकूल था। अतः समाज-बोध इनके नाटकों में विषय के स्तर पर ही नहीं बल्कि सर्जनात्मक स्तर पर भी प्रकट होता है। अपने नाटको से गीत-संगीत के दृश्य को कम कर देना तथा बेतुके कामिक (प्रहसन) को नाटक से बाहर का रास्ता दिखाना आदि, इसी का परिणाम है। अतः हम कह सकते है कि आगा हश्र काश्मीरी के नाटकों में समसामयिक परिस्थिति एवं युग की अभिव्यक्ति

हुई है। प्रगतिशील चेतना से युक्त इनकी लेखनी अपने नाटकों में सामाजिक सरोकार के प्रति सजग एवं गम्भीर रही है। इनके नाटक व्यावसायिक दृष्टि से जितने सफल है, सामाजिक दृष्टि से उतने ही सार्थक भी है।

संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचद्र शुक्ल, पृष्ठ 108
2. भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच, डॉ॰ वासुदेव नन्दन प्रसाद, पृष्ठ 101
3. रंग दस्तरावेज: सौ साल, महेश आनन्द, पृष्ठ 318
4. हिन्दी साहित्य ओर संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 139
5. आगा हश्र काश्मीरी के चुनिंदा ड्रामे (भाग-2), सं. अनीस आज़मी, पृष्ठ 754
6. वही पृष्ठ 710
7. वही, पृष्ठ 700
8. वही, पृष्ठ 418
9. वही, पृष्ठ 719
10. वही, पृष्ठ 238
11. वही, पृष्ठ 763
12. आगा हश्र काश्मीरी के चुनिंदा ड्रामे (भाग-1), सं. अनीस आजमी, पृष्ठ 93
13. वही, पृष्ठ 75

बिहार-बंगाल के सशक्त नाट्य सेतु अनिल कुमार मुखर्जी

रविराज पटेल

बिहार बंगाल नाट्य कला के सशक्त सेतु अनिल कुमार मुखर्जी का जन्म 14 जनवरी 1916 ई. को पश्चिम बंगाल के हुगली जिला स्थित मान्झेर ग्राम के एक जमींदार परिवार में हुआ था। पिता प्रमोथोनाथ मुखर्जी तथा माता गोविन्द मोहिनी देवी थीं। अनिल दा अपने माता-पिता की आठवीं संतान थे। कुल भाई बहनों की संख्या ग्यारह थी। आठ भाई और तीन बहनें। उनके माता पिता इन्हें प्यार से केष्टो कह कर पुकारते थे। वह इसलिए कि भगवान श्रीकृष्ण भी अपने माता पिता की आठवीं संतान थे। कृष्णा को बंगला में केष्टो कहते हैं। बालक केष्टो (अनिल दा) में कृष्ण की छवि भी थी । वे बांसुरी बजाने का शौक़ीन थे। अपने इसी शौक के वजह से अपने घर के समीप एक तालाब के किनारे बैठ कर बालक केष्टो बांसुरी बजा रहे थे। तत्कालीन वर्ष 1926-27 रही होगी। देश में आजादी की लड़ाई चरम सीमा पर थी। तालाब के किनारे रास्ते से अंग्रेज़ फौजियों का एक दल उसी वक्त वहां से गुजर रहा था। उन फौजियों की नज़र बालक केष्टो पर पड़ गई। फौजीयों ने केष्टो को जासूस समझते हुए गिरफ्तार कर कलकत्ता जेल भेज दिया। तब वे महज ग्यारह वर्ष के थे। इस घटना ने एक बांसुरी वादक को आगे चल कर

एक क्रन्तिकारी बना दिया। क्रन्तिकारी भी हिंसक स्वाभाव वाला।

बालक केष्टो जेल यातना भुगत कर आये ही थे कि कलकत्ता के कलक्टर की हत्या हो गई। पुनः इस घटना के आरोप में केष्टो को गिरफ्तार कर लिया गया। आशंका जताई गई कि इस घटना में उनका हाथ हो सकता है, जबकि ऐसा कुछ भी नहीं था। अंग्रेजी हुकूमत ने सजा के तौर पर केष्टो को राज्य बदर होने का फरमान सुनाया। अगर इस सजा को पालन नहीं किया गया तो आज के बाद देखते ही केष्टो को गोली मार दी जाएगी। लिहाजा अंग्रेजी प्रशासन ने उन्हें बंगाल से बाहर रांची में ला लावारिस छोड़ दिया। उन्हें बंगाल के किसी भी व्यक्ति के संपर्क में रहने तक से मना किया गया। बालक केष्टो यूँ ही दर बदर रांची की सड़कों पर भटकते रहे। न कोई जान पहचान, न कोई मुकाम। उनके माता पिता को केष्टो का यह कष्ट देखा नहीं गया। फलतः वे अपनी पैतृक जमीन जायदाद बेच कर सदा के लिए रांची के थारपकना नामक मोहल्ले में एक बना बनाया मकान खरीद कर बस गए। अब बालक केष्टो किशोर अवस्था में आ चुके थे और स्वतंत्रता संग्राम में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लेना शुरू कर दिया था ।

एक दिन की बात है, रांची के समीप रामगढ़ में ब्रिटिश सेनाओं का एक दल ठहरा हुआ था। यह जानकारी होते ही केष्टो को उसे मजा चखाने का मन हो गया। वे लुक छिप कर वहां खड़ी वाहनों के पेट्रोल एवं डीजल टंकियों में चीनी और रबर-ट्यूब का मिश्रण डाल दिया । इससे इंजन चालू होते ही जाम और धुआं धुआं हो गया। इसके कारण फौजी दल अपनी आगे की योजना तक जाने में असमर्थ हो गए, लेकिन केष्टो भी बच नहीं पाए, वे फौजियों के हाथों पकड़े गए। इस घटना को अंजाम देने के जुर्म में केष्टो को ग्यारह साल की सजा सुनाई गई। इन्हें हजारीबाग जेल में रखा गया। यहाँ उनकी मुलाकात लोकनायक जयप्रकाश नारायण एवं डॉ. राजेंद्र प्रसाद से हुई।

गीत संगीत और लिखने-पढ़ने का शौक इन्हें बचपन से ही था, लेकिन भाग दौर की ज़िन्दगी ने इन्हें पढ़ाई पूरी करने नहीं दिया । किसी तरह उन्होंने मैट्रिक तक की डिग्री ली थी। अब जेल में भाग दौड़ से

निजात था, परन्तु मन बेचैन सा रहता था। फलस्वरूप, उन्होंने लिख पढ़ कर अपना दिल लगाना शुरू किया और जेल में ही अपनी पहली नाट्य रचना 'प्रोकृति प्रतिशोध' बंगला में लिखा, जिसका हिंदी अनुवाद 'प्रकृति का प्रतिशोध' के रूप में हुआ। एक दशक से अधिक जेल यातना भुगत कर बाहर आने के बाद इस नाटक का प्रथम मंचन कलकत्ता के रंगमहल में हुआ। इस नाटक में बंगाल के वरिष्ठ और प्रतिष्ठित रंगकर्मी अहिन्द्र चौधरी ने भी अभिनय किया था। यही नाटक आगे चल कर बिहार में 'विप्लवी' के नाम से मंचित होता रहा है।

हजारीबाग जेल में ही दोस्त बने राजनेता कृष्ण बल्लभ सहाय (बाद में बिहार के मुख्यमंत्री बने) के सहयोग से अनिल कुमार मुखर्जी बिहार सरकार के राजस्व विभाग के कर्मचारी बन गए और इस कारण वे पटना के वासी हो गए। इस समय तक उनकी शादी कलकत्ता की पुष्पों मुखर्जी से हो चुकी थी। बाद में पुष्पों मुखर्जी बिहार आर्ट थियेटर की सचिव भी बनी।

नौकरी के क्रम में अनिल दा का नेतरहाट जाना हुआ और सुबह सुबह वहां उदित हो रहे सूर्य से प्रभावित हो कर 'पालकी' नामक नाटक लिखना शुरू किया। जब तक नाटक सम्पूर्ण नहीं हो गया वे पटना वापस नहीं आये।

सन 1961 ई. भारत का महत्त्वपूर्व वर्ष था। इसी वर्ष कवि गुरु रवींद्रनाथ ठाकुर का जन्मशती दिवस मनाया जा रहा था। इस उपलक्ष्य में भारत के प्रत्येक राज्यों की राजधानी में रवीन्द्र परिषद् का गठन किया जाना तय हुआ। इस मौके पर पटना में भी नाट्योत्सव का आयोजन किया गया था। अनिल दा अपने स्वलिखित नाटक 'पालकी' का मंचन करना चाहते थे। परन्तु आयोजक इस बात से सहमत नहीं हुए क्योंकि इस अवसर पर सिर्फ रवीन्द्रनाथ ठाकुर लिखित या आधारित नाटकों का ही मंचन होना निर्धारित था। अनिल दा को इससे घोर निराशा हुई। उन्होंने उसी वक्त बिहार सरकार की संस्था निबंधन एक्ट 21, 1860 के तहत बिहार आर्ट थियेटर का निबंधन करा कर अपनी नाट्य संस्था स्थापित कर ली। जिसकी स्थापना की तारीख 25 जून, 1961 है। 16 दिसंबर

1961 को बिहार आर्ट थियेटर के बैनर तले पहले नाटक 'पालकी' का मंचन हुआ। यह नाटक बंगला और हिंदी दोनों भाषाओं में मंचित किया गया।

सन 1972 ई. में बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री केदार पाण्डेय ने बिहार आर्ट थियेटर के कार्यकलाप से बेहद प्रभावित हो कर राजधानी पटना स्थित गाँधी मैदान के समीप 77 डिसमिल जमीन संस्था के नाम उपलब्ध करा दी ।

सन 1974 में इस भूखंड पर भवन निर्माण संपन्न हुआ और इस सांस्कृतिक परिसर का नाम कालिदास रंगालय तथा प्रेक्षागृह को शकुन्तला नाम दिया गया। इस परिकल्पना को साकार करने में राजनेता चंद्रशेखर सिंह (बाद में बिहार के मुख्यमंत्री बने), चिकित्सक डॉ. पूर्णेंदु नारायण सिन्हा (बाद में बिहार सरकार में मंत्री बने), आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा (तत्कालीन, कुलपति पटना विश्वविद्यालय), आर. एन दास (तत्कालीन भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी), श्रीमती दुर्गेश्वरी शाही (हथुआ महारानी), मदन मोहन सिंह एवं मनोरमा सिंह का विशेष योगदान रहा है।

सन 1968 ई. से बिहार आर्ट थियेटर के तहत बिहार नाट्य कला प्रशिक्षणालय के अंतर्गत नाट्य प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा। यहाँ दो वर्षीय नाट्य डिप्लोमा एवं छः माह के सर्टिफिकेट कोर्स की डिग्री प्रदान की जाती है। ज्ञातव्य हो कि बिहार, झारखण्ड, पूर्वी उत्तर प्रदेश, छत्तीसगढ़ एवं नेपाल प्रक्षेत्र तक में यह एकमात्र नाट्य विद्यालय है। इस नाट्य विद्यालय के शिक्षक स्वयं अनिल दा भी थे। बिहार आर्ट थियेटर तथा कालिदास रंगालय अनिल दा की बिहार के प्रति एक अमूल्य देन है, जो कभी बिसराई नहीं जा सकती।

अनिल दा द्वारा लिखित एवं निर्देशित नाटकों में प्रमुख - विप्लवी, पालकी, जली खिचड़ी, कारखाना, बहुरूपी, हम जीना चाहते हैं, बिन दुल्हन की शादी, भगवान रामचन्द्र एक अच्छे आदमी के खोज में, डेथ ऑफ़ सेल्समैन, लुक एट इन एंगर आदि थे।

अनिल दा से प्रभावित महत्वपूर्ण लोगो में डॉ. राजेंद्र प्रसाद (प्रथम

राष्ट्रपति), लोकनायक जय प्रकाशनारायण, कृष्णा बल्लभ सहाय (बिहार के मुख्यमंत्री रहे), केदार पाण्डेय (बिहार के मुख्यमंत्री रहे), चन्द्रशेखर सिंह (बिहार के मुख्यमंत्री रहे), जगन्नाथ मिश्रा (बिहार के मुख्यमंत्री रहे), विनोदानंद झा (बिहार के मुख्यमंत्री रहे) , विधानचन्द्र राय (प. बंगाल के मुख्यमंत्री रहे), वरिष्ठ रंगकर्मी शम्भू मित्र, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली के प्रथम निदेशक इब्राहीम अल्काजी, मशहूर रंग निर्देशक व अभिनेता पृथ्वीराज कपूर, अभिनेता सुनील दत्त, राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर आदि थे।

सफल व प्रेरक नाटककार एवं जोशीले स्वतंत्रता सेनानी अनिल कुमार मुखर्जी का निधन 28 जून 1991 ई. समय सुबह के 9 बजकर 15 मिनट पर पटना में हो गया। उनके दो पुत्रों में एक गौतम मुखर्जी कोलकाता एवं दूसरा दीपंकर मुखर्जी मुंबई में निवास करते हैं।

अनिल दा के निधन के पश्चात् यानि सन 1992 ई. से बिहार आर्ट थियेटर द्वारा उनके जयंती के अवसर पर अनिल कुमार मुखर्जी नाट्य महोत्सव किया जाता है तथा नाट्य कला के क्षेत्र में विशेष योगदान देने वाले रंगकर्मियों को अनिल कुमार मुखर्जी सम्मान प्रदान किया जाता है।

नाटक के प्रतिमान निर्धारण की सीमाएँ

अनिल कुमार यादव

नाटक का साहित्य और रंगमंच के साथ क्या संबंध है या भिन्नता है? इस प्रश्न के हल के बिना हम नाट्य-प्रतिमानों का निर्धारण नहीं कर सकते। शायद विवाद का मूल बिन्दु भी यही है। संस्कृत साहित्य में भी इस पर विवाद रहा है। "भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाटककार, अभिनेता और सामाजिक में से प्रत्येक का दूसरे की कला से परिचित होना अनिवार्य माना है। इन तीनों को नाट्य प्रदर्शन का अंग मानकर उन्हें दृष्टि में रख कर ही 'नाट्यशास्त्र' में दृश्यकाव्य का विवेचन किया था। उन्होंने तीनों को समान महत्व दिया था।"[1]

नाट्य रचना में साहित्यिकता और अभिनेता दोनों का समकोटी का मिश्रण आचार्य भरत का अभीष्ठ था। उनकी दृष्टि में कवि और अभिनेता अभिन्न हृदय हैं। दोनों की प्रतिभा से नाट्य-कला का विकास होता है। लेकिन बाद में प्रश्न उठा कि कवि और अभिनेता में किसका महत्व अधिक है। "आचार्य भोज ने अभिनेता से अधिक कवि को महत्व दिया। उन्होंने कहा 'अभिनेतभ्य: कवीमेव बहु मन्यामहे'। अर्थात् कवि के रचना के अनुसार अभिनय करना अभिनेता का कर्तव्य है न कि अभिनयशाला के आदेश पर रचना करना कवि का धर्म है।"[2] यहीं से कवि की महत्ता स्थापित होती गई और कालान्तर में दोनों एक दूसरे से पृथक होते गये। हिन्दी में सर्वप्रथम भारतेन्दु ने नाट्य रचना और अभिनय

कला को संयुक्त किया, लेकिन बाद में यह अन्तर बना रहा।

आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखा कि, "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।"[3] जाहिर है साहित्य और रचनात्मक नाटक का गहरा संबंध है। साहित्य रूप होने के नाते रचनात्मक दृष्टि से किसी भी नाट्यकृति का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है और यह भी जरूरी नहीं कि वह मंचीय दृष्टि से सफल भी हो। भारतेन्दु के बाद से नाट्यकृतियों के मूल्यांकन साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर किये गये। इस समय के मूल्यांकन के नाम पर प्रस्तुत अधिकांश आलोचनाएँ या तो इतिवृत्तात्मक रहीं या फिर काव्यलोचन मात्र।

डॉ. दशरथ ओझा के 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' में तथा बच्चन सिंह के 'हिन्दी नाटक' में इस काव्यालोचनात्मक इतिवृत्त के दर्शन होते हैं। और भी कई ग्रन्थों के नाम लिये जा सकते है। इसी तरह अध्यापकीय आलोचनात्मक शैली भी दिखाई देती है, जिसमें नाटक के तत्वों के आधार पर नाटकों का मूल्यांकन प्रस्तुत की जाती रही है। उदाहरण के तौर पर डॉ. जगन्नाथ शर्मा द्वारा प्रस्तुत 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' इसी कोटि का मूल्यांकन है। बाद में काफी आलोचकों ने साहित्यिक प्रतिमानों का प्रयोग मूल्यांकन के लिए किया और रंगमंचीय प्रतिमान या तो उपेक्षित कर दिये या अधिक महत्व नहीं दिये। दूसरी तरफ रंगमंचीय आलोचकों का एक धड़ा ऐसा रहा है जिसने निरा रंगमंचीय प्रतिमानों से ही नाटक का मूल्यांकन किया या साहित्यिक प्रतिमानों को अधिक महत्व नहीं दिया।

डॉ. दशरथ ओझा ने लिखा है, "अभिनय कला से अभिज्ञ आलोचकों का उद्घोष है कि नाटक रंगमंच के लिए ही है। जो कृति रंगमंच पर सफल नहीं वह चाहे सिद्धान्त की दृष्टि से कितनी ही उच्च हो, पर वह नाट्य क्षेत्र से बहिष्कृत होने योग्य है।"[4] इस प्रकार नाट्य मूल्यांकन के दो रूप सामने आते हैं। एक नाट्य मूल्यांकन में नाट्य कृति की सर्जनात्मक धरातल पर किया गया मूल्यांकन मिलता है तो दूसरी में नाटक के प्रस्तुति पक्ष का मूल्यांकन होता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या नाट्यरचना केवल साहित्यिक ही है, अगर साहित्यिक विधा ही है तो रंगमंच को ध्यान में रखकर नाटककार क्यों नाट्य रचना करता है? नाटककार सृजन के क्षणों में अपने कथ्य योजना और उसकी रंगमंचीय प्रस्तुति की उपयोगिता पर एक साथ सोचता है। कारण साफ है, बिना रंगमंचीयता के नाटक अधूरा है। नेमिचंद्र जैन ने लिखा है, "नाटक शब्दबद्ध होने पर भी निरा साहित्य नहीं है और भी बहुत कुछ है।"[5] जो उसके अपने हैं, विशिष्ट हैं, जो सब एक साथ अन्य किसी कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम में नहीं होते।

निश्चित ही नाटक में नाटककार के अतिरिक्त अभिनेता, निर्देशक, रंगशिल्पी तथा समूह रूप में उपस्थित दर्शक वर्ग आदि ऐसे तत्व मौजूद हैं जो अन्य किसी कला के रूप में नहीं होते। इसीलिए नाटक का सही मूल्यांकन इतने सब तत्वों को एक साथ परीक्षा किए बिना संभव नहीं है। सुरेश अवस्थी भी लिखते हैं, "नाटक के साहित्यिक अंश पर आग्रह करने वाले यह भूल जाते हैं कि उसका रूप और उसकी प्रेषणीयता कई अन्य कलाओं के तत्वों से प्रभावित और नियंत्रित होती है। इसमें सबसे प्रधान अभिनेता की कला है। अभिनेता केवल अनुकर्ता और व्याख्याता ही नहीं है, उसकी कला-सृजनधर्मा है। उसमें बार-बार नारकीय चरित्र नया जन्म लेता है, बहुत बार उसके माध्यम से चरित्र नाटककार द्वारा कल्पित चरित्र से भिन्न भी हो जाता है। अभिनेता नाटक के कथा दृश्यों और पात्रों का जिस प्रकार साक्षात्कार करता है, वैसा अन्य किसी साहित्यिक कृति में संभव नहीं है।"[6]

इस सम्बन्ध में सत्यव्रत सिन्हा भी लिखते हैं, "नाटक की केवल साहित्यिक मानदण्डों द्वारा समीक्षा नाटक की अधूरी समीक्षा है।"[7] रंगमंच ओर प्रदर्शन की रूढ़ियाँ, रंग सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था तथा संगीत और नृत्य आदि अनेक कलाओं के तत्व और कला-रूढ़ियाँ, नाटक की मूल वस्तु, साहित्यिक अंश, सभी प्रेषणीयता का रूप अनुशासित भी करती है और विशिष्ट भी बनाती है। इसलिये नाटक के मूल्यांकन के लिए जब तक समग्रता से नहीं देखा जायेगा, तब तक उचित मूल्यांकन नहीं हो सकता। उपरोक्त आलोचकों की तरह मोहन राकेश भी मानते हैं,

"लिखा हुआ नाटक अपने में पूर्ण नहीं होता। रंगमंच की पृष्ठभूमि और पात्रों का अभिनय उसे पूर्णता प्रदान करते हैं। एक कृति के रूप में नाटक तभी सफलता प्राप्त कर सकता है जबकि उसमें रंगमंच पर अभिनीत होने की संभावना निहित हो।"[8] इन सभी आलोचकों ने नाटक के साहित्यिक मूल्यांकन के साथ रंगमंचीय मूल्यांकन की भी मांग करते हैं। जब कृति (नाट्य) बिना रंगमंच के अधूरी है तब उसका मूल्यांकन भी बिना रंगमंच के अधूरा ही होगा।

जिस प्रकार किसी नाट्यकृति की सफलता उसके रंगमंच में है उसी प्रकार बिना साहित्यिकता के भी कोई नाटक पूर्ण नहीं हो सकता। ऐसे बहुत से नाट्यकृतियों को आप देख सकते हैं जो नाट्यमंचन की दृष्टि से बहुत ही लोकप्रिय रही हैं लेकिन फिर भी किसी प्रकार के उच्च साहित्यिक मूल्यों से वे एकदम शून्य हों। रमेश मेहता के नाटक अपने समय में बहुत मंचित हुए। बेशक उनका मंचन बार-बार हुआ लेकिन आलेख रूप में वे निहायत ही सपाट, एकांगी और किसी भी प्रकार के मानवीय संबंध के गहराई से शून्य हैं। इस प्रकार के नाटकों का मूल्यांकन अगर किया जाय तो साहित्यिक दृष्टि से घटिया ओर मंचन दृष्टि से अच्छा नाटक होगा।

नेमिचंद्र जैन ने लिखा है, "नाटक को निरा साहित्यिक मानना जितना भ्रामक सिद्ध होता है उतना ही उसे निरा रंगमंच मानना भी।"[9] बहुत सी नाट्य कृतियाँ ऐसी भी हैं जो साहित्यिक और रंगमंचीय दोनों दृष्टियों से कमजोर हैं, कुछ ऐसी भी है जो दोनों दृष्टियों से महान हैं। जाहिर है जब तक हम इनका समग्रता से मूल्यांकन करने के लिए प्रतिमान नहीं बनाएंगे, तब तक नाटकों का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता। नाटक को बाँट कर देखने के कारण ही यह पूरा विवाद उत्पन्न हुआ है। कोई इसको निरा साहित्यिक मानतस और कोई निरा रंगमंचीय। जब तक नाट्यकृति, नाटककार तथा रंगमंचीय उपादानों को मिला कर समग्रता के साथ मूल्यांकन नहीं किया जाता तब तक वह नाटक का मूल्यांकन नहीं होगा।

नाटककार और आलोचक मोहन राकेश नाट्य रचना और नाट्य प्रस्तुति को प्रक्रिया के स्तर पर अलगाते हैं। राकेश की दृष्टि में, "नाट्य रचना, नाटककार के अकेले कमरे और व्यक्तित्व की प्रक्रिया है जबकि नाट्य प्रस्तुति प्रस्तोता के व्यक्तित्व की विभिन्न अंत:प्रक्रियाओं से गुजरकर सामूहिक दृश्य प्रस्तुत करती है।"[10] जहां तक राकेश जी स्थापना का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि बन्द कमरे में बैठा नाटककार रंगमंच और दर्शकों की सीमा को भूलकर नाटक नहीं लिख सकता। अगर लिखता है तो उसे फिर अपने नाटक में वैसा ही संशोधन करना पड़ता है जैसे राकेश जी को स्वयं करना पड़ा था।

राकेश जी की स्थापना के अनुसार प्रस्तुति की आलोचना अलग हो जाती है और नाट्यकृति की सर्जनात्मक आलोचना अलग। इससे एक संभावना जरूर उभरती है कि दोनों ही शैलियाँ स्वतंत्र रूप से विकसित होकर रंगालोचन की एक विराट स्वरूप निर्मित करेंगी। बहुत से आलोचक ऐसे हुए जो नाटक का मूल्यांकन दो भागों में बांटकर लिये-(1) नाट्यकृति का तथा (2) नाट्यमंचन का।

किसी नाटक के मूल्यांकन के लिए किसी नाटककार द्वारा रचित नाट्यकथा के किसी नाट्य प्रयोग द्वारा मंचीय प्रस्तुति तक के समस्त व्यापार की एक अन्त:प्रक्रिया के रूप में नाटक को स्वीकार करना होगा। और नाट्य रचना तथा नाट्य प्रस्तुति को अलग करके नहीं देखा जा सकता है। नाटक का मूल्यांकन हमेशा दो दृष्टियों से किया जाना चाहिए- नाटय रचना की दृष्टि से और नाट्य प्रयोग की दृष्टि से। इस प्रकार नाट्य-मूल्यांकन का रूप और आकार एक ही रहेगा लेकिन इस प्रकार के नाट्य मूल्यांकन में दृष्टि दो काम कर रही होगी।

प्रश्न उठता है कि नाट्य मूल्यांकन के लिए एक दृष्टि का प्रयोग क्यों न किया जाय, इसे अलग-अलग खानों में बांट कर क्यों किया जाय। नेमिचंद्र जैन ने लिखा है "नाटक का मूल्यांकन साहित्यिकता ओर अभिनेयता और मंचोपयुक्तता के अलग-अलग खानों में बांट कर नहीं हो सकता। नाटक श्रेष्ठ तभी हो सकता है जब वह अन्य कलात्मक-सृजनात्मक अभिव्यक्तियों की भांति, किसी न किसी तीव्र और गहरी और महत्वपूर्ण अनुभूति, भाव, विचार, जीवनदृष्टि या परिस्थिति को प्रस्तुत करता हो।

यदि वह कोई सार्थक, विशेष ओर मूलभूत बात नहीं कहता है तो वह चाहे जितना अभिनेय या 'साहित्यिक' हो उसका कोई कलात्मक महत्व नहीं है।"[11] डॉ. निर्मला जैन भी इस मत को स्वीकार करते हुए कहती हैं, "नाट्य समीक्षा के रूप में जिन नाटकों की पुस्तक समीक्षा लिखी जाय उनमें नाटक के काव्य रूप एवं प्रस्तुति पक्ष दोनों को सम्मिलित किया जाय।"[12] जब-तब दोनों पक्षों को मिलाकर मूल्यांकन नहीं किया जायेगा तब तक वह 'नाटक' का मूल्यांकन नहीं होगा।

नाटक की साहित्यिकता और रंगमंचीयता का अलग-अलग मूल्यांकन संभव भी है और उचित भी है लेकिन यह नाटक का मूल्यांकन नहीं होगा। नाटक के एक विशेष पक्ष का मूल्यांकन होगा। किसी भी नाटक की कोई अन्तिम मूल्यांकन संभव भी नहीं है, क्योंकि नाटक के हर मंचन पर उसके मूल्य बदलते रहेंगे। देवेन्द्र नाथ अंकुर अपनी पुस्तक 'दर्शन-प्रदर्शन' में आग्रह करते हैं कि "आज जरूरत इस बात की है कि ऐसे प्रतिमान का विकास किया जाय, जो एक साथ नाटक के साहित्यिक एवं रंगमंचीय पक्ष को उजागर करने की कोशिश करें।"[13] बिना इस प्रतिमान के नाटक का मूल्यांकन नहीं हो सकता। यह तभी संभव है जब तक नये 'नाट्यशास्त्र' की रचना हो। इस प्रतिमान के अनुपस्थिति में हमें नाटक को दो भागों में बांट कर मूल्यांकन करने का ही विकल्प रह जायेगा।

अतः नाटक के मूल्यांकन के लिए न तो साहित्यिक प्रतिमान उपयुक्त होगा और न ही रंगमंचीय प्रतिमान। बल्कि दोनों ही प्रतिमानों के माध्यम से नाट्य समीक्षा की सीमाएं ही उजागर होती है।

संदर्भ

1. दशरथ ओझा, रूपक और परिवर्तित प्रतिमान, नटरंग पत्रिका, वर्ष अंक 3, सं. नेमिचंद्र जैन, पृष्ठ 21
2. वही, पृष्ठ 21
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 393

5. सुरेश अवस्थी, नाट्य समीक्षा : स्वरूप और मूल्यों का अंतर्विरोध, नटरंग, अंक

3, सं. नेमिचंद जैन, पृष्ठ. 23
6. नेमिचन्द्र जैन, संपादकीय, नटरंग पत्रिका, अंक 3
7. सत्यव्रत सिन्हा, रंगमंच ही नाटक का निकष, नटरंग पत्रिका, अंक 3, सं. नेमिचंद जैन, पृष्ठ 15
8. मोहर राकेश, साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 86
9. नेमिचन्द्र जैन, संपादकीय, नटरंग पत्रिका, अंक 3
10. नटरंग (त्रै.), नई दिल्ली, मोहन राकेश स्मृति अंक में मोहन राकेश का लेख, पृष्ठ 13
11. नेमिचन्द्र जैन, संपादकीय, नटरंग पत्रिका, अंक 3
12. डॉ. निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना 20वीं शताब्दी, पृष्ठ 84
13. देवेन्द्र राज अंकुर, साहित्य रंगमंच और आलोचना, पृष्ठ 2

भारत में वैष्णव नाट्य परम्परा की सामाजिक भूमिका

कुमार गौरव मिश्रा

वैष्णव भक्ति धारा में भगवान की लीलाओं का नाटकीय प्रस्तुतीकरण मनोरंजन की वस्तु नहीं, आध्यात्मिक उन्नयन की युक्ति बन गई और उसे वह उच्च भावभूमि मिली जिसके कारण उसे भारतीय जनमानस में अनोखा सम्मान और लोकप्रियता प्राप्त हो सकी। वैष्णव भक्ति के प्रभाव स्वरूप अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ उनके बड़े बड़े प्रांगणों में नाट्यप्रदर्शन सरलता से हो सकता था। मंदिरों के पास पर्याप्त धन सम्पदा थी, कीर्तनिए और कथागायक थे। दक्षिण और उड़ीसा के मंदिरों में नृत्य प्रस्तुत करने के लिए देवदासियाँ रखी जाती थी, भगवान की मंगल आरती के साथ गायन वादन आवश्यक था ही – इस प्रकार मंदिर संगीत, नृत्य और नाट्य प्रदर्शन तीनों के ही केंद्र बन गए।

वैष्णव भक्ति आंदोलन का व्यापक प्रभाव पूर्वोत्तर भारत में भी पड़ा। असम से लेकर मणिपुर और त्रिपुरा की घाटियों में वैष्णव भक्ति की चेतन छाया में कई नाट्य रूपों का प्रादुर्भाव हुआ। इन नाट्य रूपों में सिक्किम का बालन, असम का अंकिया, भाओना/भावना, त्रिपुरा का

ढब जात्रा तथा मणिपुर की गोड़लीला आदि प्रमुख है।

पूर्वोत्तर भारत के भक्ति संतों ने कृष्ण को अपना नायक बनाया। रंगमंच पर राम की उपस्थिति कृष्ण की अपेक्षा कम रही। सिक्किम के बालन तथा आसाम के अंकिया नाट में राम और कृष्ण दोनों के जीवन से जुड़ी लीलाओं को प्रस्तुत किया जाता है, जबकी गोड़लीला और ढब जात्र के केंद्र में सिर्फ कृष्ण हैं।

उत्तर से दक्षिण और पूर्व पश्चिम तक इस समय जो लोक नाट्य शैली से प्रचलित है। उन सबका उदयकाल 15वीं –16वीं शताब्दी माना जाता है। परंतु इन सबकी प्रेरणा का स्रोत हमारे विचार से महाकवि जयदेव का गीतगोविंद ही है जिसकी रचना 12वीं शताब्दी में हुई। इस लीला काव्य की लोकप्रियता उस युग में इतनी अधिक थी कि यह ग्रंथ स्वयं श्रीकृष्ण की रासलीला प्रदर्शन का मुख्य माध्यम बन गया। देश के विभिन्न भागों में उस युग में गीत-गोविंद के नाट्य प्रदर्शन होते थे। पुरी के मंदिर में आज भी गीत गोविंद के प्रदर्शन की परंपरा है और वहाँ आज भी वेतनभोगी प्रदर्शनकारी मंदिर में गीतगोविंद का प्रदर्शन करते हैं। गीतगोविंद के यह प्रदर्शन उस समय पूरे देश में होते थे।

इस संबंध में जगदीश चंद्र माथुर का कथन है कि जयदेव ने न सिर्फ दृश्य प्रबंध का विकास किया, वरन एक नूतन संवाद पद्धति को भी प्रचलित किया। इसमें संलाप प्रधान होते थे। इस पद्धति में सूत्रधार द्वारा मंगलाचार तथा सूचना उसके बाद अन्य पात्रों द्वार ध्रुवपद सहित संलाप। इसमे यह सुविधा थी की जब सूत्रधार स्तुति और सूचना बोधक श्लोकों को बोलता था तब आगे आने वाला पात्र संलाप के लिए तैयार था। इस अवकाश की जरूरत इसलिए भी थी कि हर कथन, गीत तथा संलाप को गायन एवं नृत्य के साथ प्रस्तुत किया जा सकता था। इस सुविधा के कारण केरल से आसाम तक सौराष्ट्र से उत्कल तक गीत गोविंद मंदिरों और राजप्रासादों में खेला जाने लगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है की वर्तमान लोक नाट्यों के उदय की पृष्ठभूमि भी जयदेव के गीतगोविंद पर आधारित थी और इसी नृत्य

गायन, संलाप प्रधान शैली से आगे चलकर सभी लोक नाट्यों की रचना हुई। यही कारण है कि विभिन्न लोकनाटकों की प्रदर्शन शैली में बहुत सी समानता आज भी विद्यमान है। अत: वर्तमान लोक नाट्यों का उदय भी लीला नाटक शैली से ही हुआ। हमारा यह कथन इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि भाषा नाटकों में जो सबसे प्राचीन लोक नाटक उपलब्ध है। वह भी उमापति द्वारा रचित 'पारिजातहरण' लीला नाटक ही है जो 14 वीं शताब्दी में रचा गया था ।

वर्तमान भाषा नाटकों में **कूडियाट्टम** सबसे प्राचीन है जिसको विकसित करने में केरल नरेश राजा कुलशेखर वर्मा की प्रधान भूमिका थी। कूडियाट्टम शब्द का अर्थ ही मिलाजुला रूप है। कुलशेखर वर्मा ने नाट्य की कई शैलियों को मिलाकर कूडियाट्टम शैली चलाई थी, उसमें कुलशेखर वर्मा ने लोक नाट्यों के चाक्यार और विदूषक का मिश्रण किया तथा स्थानीय भाषा को महत्व देकर उसको नवीन किया। इस शैली में रचा गया उनका नाटक 'सुभद्रा धनपद' बहुत प्रसिद्ध व लोकप्रिय है यह नाटक भी लीला नाटक से ही है। इस प्रकार लीला नाटकों की नवीन शैली का प्रारम्भ दक्षिण से ही हुआ । जिसका विकास विभिन्न क्षेत्रों में अपने अपने ढंग से हुआ ।

जिस समय देश में लोक नाटकों का विकास हो रहा था । उसी समय भारत में मुसलमानी शासन दृढ़ हो रहा था और उसकी कट्टरता से हिन्दू समाज अपने को दमित, अपमानित मानकर क्षुब्ध था तथा दूसरी ओर इससे निराशा का वातवरण पनप रहा था, जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप देश में कई आंदोलनों का सूत्रपात हुआ। इस काल में दक्षिण से कई संत उत्तर में आकर बस गए और उनकी प्रेरणा से जो भक्ति आंदोलन देशव्यापी रूप में खड़ा हुआ उसने विभिन्न अंचलों में लीला नाटकों की स्थापना में विशेष योगदान दिया। भगवान राम, कृष्ण, नृसिंह आदि के अनेक कथानकों के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में लीला नाटकों के विभिन्न मंच स्थापित हुए। ऐसे मंचों में असम का अंकिया नाट सबसे प्राचीन लगता है।

तमिलनाडु के लोकनाट्यों में **भागवत मेल** लीला नाटकों की दृष्टि

से महत्वपूर्ण है। कहा जाता है कि इसकी परंपरा 11वीं शताब्दी तक जाती है, परंतु वास्तव में इसका उत्कर्ष तीर्थ नारायण योगी के द्वारा हुआ जिसने स्वयं 'कृष्ण लीलातरंगिनी' की रचना की थी। इसने अपनी मान्यता के अनुसार इस मंच को संगीत, नृत्य और अभिनय की त्रिवेणी के रूप में सजाया। भागवत मेल प्राचीन नाट्य परंपरा का प्रांतीय भाषाओं में पुनरुत्थान है। कला के उच्चतर रूपों में विश्वास और रुचि रखने वाले महत्वाकांक्षी आधुनिक नर्तकों को इस कला में उच्चस्तरीय संगीत अभिनय और 'नन्ट्ट्वंगम' का खजाना मिल सकता है।

भगवान विष्णु के दस अवतारों की लीला को अपनी कथावस्तु बनाने वाला **दशावतार** महाराष्ट्र का दूसरा ऐसा नाटक है जिसमें सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग होता है। दशावतार लीला में यह आवश्यक नहीं कि विष्णु के सभी अवतारों की लीला दिखाई जाती है। प्राय: पशुराम, बुद्ध व कल्कि अवतारों का तो उल्लेख भाग ही होता है। राम और कृष्ण की लीलाओं को अन्य की अपेक्षा ज्यादा महत्व मिला, इन लीलाओं में रोचकता बढ़ाने के लिए विदूषक मंच पर विशेष रूप रहता है ।

जात्र नाटकों में मिलती जुलती एक धार्मिक लोक नाटकों की परंपरा **'ललित'** नाम से बड़ी लोकप्रिय रही है। जो अब धीरे धीरे समाप्त हो रही है। ललित नाटकों का प्रारम्भ महाराष्ट्र में सन 1890-95 के आस-पास हुआ था। आनंद कुमार स्वामी ललित की व्युत्पति लीला से ही मानते हैं। इस दृष्टि से यह परंपरा लीला नाटक की कड़ी है। महाराष्ट्र का मंच होते हुए भी इस मंच की भाषा उत्तर भारत की लोक प्रचलित हिन्दी है। ललित का संबंध भारूड़ शैली से है। कहीं हिन्दी, कहीं मराठी, कहीं मिश्रित और कहीं एकदम लोकगीतों का समावेश इस मंच की विशेषता है।

संस्कृत रंगमंच के विघटन के बाद मध्य युग में भक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप, देश में नाट्य परंपरा का जो दूसरा चरण शुरू है उसमें उभरने वाले नाट्य रूपों में, विशेषकर हिन्दी भाषी क्षेत्र में **रासलीला** कई दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वैष्णव पुराणों पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें

भगवान कृष्ण की रासलीला के विविध वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। पुराणों के साथ-साथ 'हल्लीसक क्रीड़ा' का उल्लेख भी मिलता है। संस्कृत के साथ-साथ भारत की सभी भाषाओं के उस साहित्य में जहां कृष्ण के चरित्र का उल्लेख है वहाँ उनके रास का भी वर्णन विशेष रूप से है। विद्वानों का मत है कि कृष्ण द्वारा प्रारम्भ किया गया यह नृत्य कालांतर में पूरे जन साहित्य का आधार था। आज भी ब्रज और मणिपुर में श्रीकृष्ण को आधार मानकर रास की जो परंपरा प्रचलित है वह कृष्ण की इसी पौराणिक परंपरा का परिवर्ती रूप है। मध्यकाल में संतों ने ब्रज की यात्रा की तथा यहाँ की नृत्य, गायन शैली को अपने क्षेत्र में नाट्य रूपों में प्रयोग किया। वैष्णव नाट्य परंपरा में ब्रज की रासलीला का प्रमुख स्थान है।

भारत का उत्तरी भाग खासकर पूर्वांचल सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र रहा। वैष्णव संप्रदाय के जनक चौतन्यदेव का जन्म बंगाल में ही हुआ। असम में शंकरदेव वैष्णव संप्रदाय के पुरोधा हुए। उड़ीसा ने जयदेव की गीतगोविंद की परंपरा को संजोए रखा तो बिहार में वैष्णव लोक नाटकों का जन्म हुआ। अकेले बिहार में ही कीर्तनियाँ, बिदापत, नारदी गायन, रासलीला, तथा पूर्वी बिहार में जात्र जैसी नाट्य परम्पराएँ जीवित है। यही कारण है की बिहार वैष्णव आंदोलन में मुख्य भूमिका निभाता है।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बिहार, बंगाल, असम, सिक्किम, अरुणाचल, मणिपुर, त्रिपुरा, नागालैंड आदि राज्यों के क्षेत्र को पूर्वांचल कहा जाता है। प्राचीन काल से ही पूर्वांचल में लोक नाट्यों की सुदृढ़ परंपरा रही है, जिसमें भाषिक भिन्नता रहते हुए, मौलिक प्रदर्शन में शैली में कहीं न कहीं समानता है या एक दूसरे से प्रभावित है।

13वीं सदी में राजदरबारों में नाट्यकला को प्रोत्साहन मिला। 14वीं शताब्दी में मिथिला में कर्णाट्वंशी शासक हरीसिंह देव ने नाट्यकलाओं और नाटककारों को प्रश्रय दिया। उनके ही दरबार में ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने 'धूर्तसमागम' और 'पारिजातरण' नाटक की रचना की। कीर्तनियाँ नाट्य परंपरा में पारिजातहरण बहुत ही लोकप्रिय हुआ, जिसका मंचन

दक्षिण भारत के राजदरबारों में हुआ तथा अपने समकालीन और परवर्ती नाट्यरूपों को प्रभावित भी किया। लेकिन दरबार के साथ ही लोक में भी इसके प्रदर्शन होते रहें हैं।

15वीं शताब्दी तक भक्ति आंदोलन का प्रसार उत्तर और पूर्व भारत तक हो चुका था। ब्रजमंडल देश के वैष्णव भक्ति का केंद्र बना। भक्तिकाल में कृष्ण तथा राम की लीलाओं को गीत एवं नृत्य के माध्यम से प्रस्तुत किया गया । यह वही समय था जब पूर्वांचल के कई संतों ने ब्रजमंडल का दौरा किया जिसमें शंकरदेव तथा चैतन्य प्रमुख थे। इन्होने अपने क्षेत्र में जाकर वैष्णव मत का प्रचार किया तथा पूर्वांचल एवं पूर्वोत्तर भारत में भावना, ढब जात्र, गोड़ लीला, शुमांग लीला, जात्र आदि पारंपरिक नाट्य अस्तित्व में आए।

पूर्वोत्तर भारत के इतिहास पर गौर करे तो यह राज्य प्राचीन काल से ही व्यापक गतिविधियों का केंद्र रहा । पूर्वांचल के बारे में अपना मत प्रकट करते हुए विश्वेशर जी कहते हैं – "सरयू, सोन से बंगसागर तक तथा पूरी से हिमगिरि तक तथा नेपाल उपत्यका से असम अधिपत्य का तक जो भी जंगल, पहाड़, जल स्थल, भाव, विचार परंपरा प्रचलित है, अपने प्रकृति परिवेश से एक विलक्षण पूर्वांचलिय परिधि प्रस्तुत करता है।"

इन राज्यों में आदिम संस्कृति की प्रधानता है जहां बाहरी या सभ्य समाज की परंपरा और संस्कृति का प्रभाव कम ही पड़ा। लेकिन पूर्वांचालिय संस्कृति से हम आदिम जनजातीय संस्कृति को अलग नहीं मान सकते, क्योंकि पूर्वांचल के अन्य भागों में आदिवासी जनजाति रहती है। इस प्रकार पूर्वांचल संस्कृति के निर्माता आदिम तथा सभ्य दोनों समाज के लोग थे। एक ही साझा संस्कृति से कारण लोक उत्सवों में भी समानता है। सम्पूर्ण पूर्वांचल किसी न किसी नदी के किनारे बसा हुआ है अतः नदियों को लेकर भी एक साझी संस्कृति यहाँ मिलती है। कहा जा सकता है कि भाषिक विविधता होने के बावजूद इन राज्यों में सांस्कृतिक एकता है। यह कारण उस पृष्ठभूमि को तैयार करते हैं, जिनसे एक साथ सम्पूर्ण पूर्वांचल में वैष्णव धर्म पैर पसार सका तथा

कई लोक नाट्यों का प्रादुर्भाव हुआ। वैष्णव आंदोलन की पृष्ठभूमि तथा उसके प्रचार में इन लोक नाटकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इन सभी राज्यों में बिहार सारथी की भूमिका निभाता है।

मिथिला में नाटक लिखने की शुरुआत 14वीं शताब्दी में हुई। ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'धूर्तसमागम' 1325 ईस्वीं में लिखा गया ऐसा नाटक है जो न केवल मिथिला अपितु सम्पूर्ण उत्तर भारत में लिखा गया पहला नाटक है ।

बिहार कला एवं कलाकारों का मुख्य केंद्र रहा है, महाजनपद काल में अंग, मिथिला और मगध कलाकारों का संरक्षण स्थल था। रामायण और महाभारत के अन्त: साक्ष्य के अनुसार यहाँ के आम जनों का गणतन्त्र से गहरा संवाद था। अत: लोककला रूपों को गणतन्त्र ने पर्याप्त संरक्षण दिया।

इतिहास में देखें तो तुर्क-पठान आधिपत्य हो जाने पर मिथिला अपने सांस्कृतिक मार्ग पर आगे बढ़ता रहा। इस समय में मिथिला में जो शासक थे वो कर्णाट्वंशी थे। लेकिन उन्होने संस्कृत के अलावा मैथिली, भाषा को भी प्रोत्साहित किया।

मिथिला गेय काव्य का केंद्र था। उमापति ने अपने नाटक 'पारिजातहरण' में मैथिली में ही गीत लिखे हैं। ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर में 'लोरिक' नाम के लोकगीतों का उल्लेख किया है, जो मिथिला में आज भी लोकप्रिय है। मिथिला में जो दर्शन का विकास हुआ और साहित्य में जो नई धारा प्रवाहित हुई उसने आसपास के प्रदेशों को प्रभावित किया। राधाकृष्णन चौधरी ने डॉ. दिनेशचन्द्र का हवाला दिया जिनका विचार था की 'बंगाल को अपनी सभ्यता मिथिला से प्राप्त हुई'।

मिथिला के नाटकों और संगीत का प्रभाव बंगाल, उड़ीसा, असम और पश्चिम में हिन्दी प्रदेश के शेष भाग पर काफी हुआ। इस प्रभाव और विस्तार का प्रमाण यह है कि विद्यापति की रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ नेपाल, बंगाल आदि प्रदेशों में भी मिलती है ।

सर्वप्रथम जयदेव का गीतगोविंद तत्पश्चात विद्यापति वैष्णव मत

को प्रचारित करने में मील का पत्थर साबित हुए। गीतगोविंद गीतिनाट्य है। विभिन्न चरित्रों के मध्य जैसे श्रीकृष्ण, राधा और सखियों के बीच यत्र-तत्र गेय संवाद हैं। श्रीकृष्ण कीर्तन भी एक लोकनाट्य है। गीतगोविंद में राधाकृष्ण के लौकिक प्रेम या मिलन की कथावस्तु के चारों और बुने गए प्रगीतों का सतत क्रम है, जो मुक्तक होते हुए भी कथात्मक भी है। उसी तरह विद्यापति के कृष्ण विषयक पदावलियाँ सम्पूर्ण पूर्वी भारत में गायी जाती है ।

वैष्णव आधारित कथानकों में बिहार के कीर्तनियाँ तथा बिदापत नाच लोकनाट्य हैं। कीर्तनियाँ देशव्यापी सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का परिणाम था। कीर्तनियाँ के कथानकों में उषाहरण, कृष्णकेलिमला, श्रीकृष्ण जन्मरहस्य, माहावानन्द, गौरी स्वयंवर कृष्ण विषयक थे। कीर्तनियाँ नाट्य परंपरा में उमापति ने पारिजातहरण नाटक की रचना की। इस नाटक की भाषा और शिल्प ने न केवल मिथिला बल्कि पूर्वांचल भारत के कई रूपों को प्रभावित किया। पारिजातहरण का कथानक हरिवंशपुराण (अध्याय 124 –135), विष्णु पुराण (अध्याय 5, श्लोक 30 – 31) और श्रीमदभागवत गीता के पारिजात पुष्प के लिए कृष्ण और इन्द्र के बीच हुए विवाद और युद्ध के प्रसंग पर आधारित है । त्रिपुरा का 'ढब जात्र', बंगाल की 'जात्र', बिदापत में 'पारिजातहरण' का कथानक कई दिनों तक मंचित होता रहा ।

मध्यकालीन वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि में एक नाट्य रूप सामने आता है – **बिदापत** । बिदापत में आज भी गीतगोविंद की नाच गान पद्धति तथा ब्रज की रास परम्परा के अवशेष देखे जा सकते हैं। जगदीश चंद्र माथुर ने बिदापत को विद्यापति से प्रेरित माना है। बिदापत के पूर्वरंग में विद्यापति की पदावलियाँ गाई जाती हैं। विद्यापति के राधा-कृष्ण विषयक पदावली में कथा तत्व जुड़ने से बिदापत जैसा नाट्य रूप अस्तित्व में आया ।

बिदापत मंच पर कृष्ण के जीवन से जुड़े कथानकों या लीलाओं को प्रदर्शित किया जाता है। बंसीलीला, नागलीला, मानलीला आदि प्रमुखता से प्रस्तुत होते हैं। कभी बिदापत मंच पर 'पारिजातहरण' और

'कालियदमन' का मंचन भी होता है।

वैष्णव भक्ति नाट्य परंपरा की सशक्त नाट्य परंपरा हमें बंगाल में मिलती है, जहां वैष्णव भक्ति आंदोलन के पुरोधा चैतन्य ने वैष्णव भक्ति का प्रचार प्रसार किया। यहाँ का प्रसिद्ध लोक नाट्य **जात्र** है। मध्ययुगीन बंगाल में लोक नाटक का एक रूप विकसित हुआ, जो कृष्ण-यात्रा 'जात्र' के नाम से जाना जाता है। यह संगीत नाटक का एक रूप है। इसके सभी संवाद कंठ-संगीत में हैं। कृष्ण, राधा और दो सेविकाओं के चरित्र इसमें थे। जयदेव का गीतगोविंद बंगाल के वैष्णवों में अत्यधिक लोकप्रिय था। अत: यह स्वाभाविक ही है कि लोक नाटक का रूप जयदेव के गीतगोविंद पर आधारित है।

पंद्रहवीं शताब्दी में भक्ति आंदोलन का बंगाल के जनजीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। भक्त देवता की आराधना के लिए जुलूसों में नाचते-गाते थे। इसमें धार्मिक विषयक कथानक मंचित होते हैं। चैतन्य देव इसके प्रणेता माने जाते हैं। वैष्णव मत को प्रचारित करने में जात्र का अधिक प्रयोग हुआ। इसमें कीर्तन, नृत्य, गीत शैली का प्रादुर्भाव होने के कारण समृद्ध हुआ।

अंकिया आसाम का जनप्रिय पारंपरिक नाट्य रूप है। इसे वैष्णव नाटक भी कहा जाता है। इसके आदि प्रणेता प्रसिद्ध वैष्णव संत शंकर देव को माना जाता है। शंकर देव ने अपने शिष्यों सहित ब्रजमंडल की यात्रा की। वहाँ उन्होने कृष्ण के जीवन पर आधारित लीलाओं को देखा वहाँ से वह पूर्वांचल भारत की यात्रा पर गए। वहाँ उन्होने बंगाल में जात्रा तथा बिहार में कीर्तनियाँ (उमापति रहित पारिजातहरण) आदि देख असम लौटने के बाद अनुभव से ब्रजबूली की रचना की।

शंकरदेव कालीन आसाम राजनैतिक दृष्टि से पूर्णत: असुरक्षा, अमर्यादित, आक्रमण के अमानवीय व्यवहार का क्षेत्र बना हुआ था। अत: विखंडित और हताश राजनैतिक स्थिति ने सामान्य जनता को शांति और सुरक्षा के लिए मानवतावादी शंकरी भक्ति के प्राप्ति के योग्य वातावरण तैयार करने में सहयोग दिया। शंकरदेव ने वैष्णव मत के द्वारा वहाँ की त्रस्त जनता को एक मार्ग दिखाया। घोर कर्मकांडी, तंत्र साधना

से युक्त कामरूप के लिए वैष्णव पाठ एक विकल्प के तौर पर उभरा व जातिवादी रूढ़ियों को तोड़ने के कारण भी आसाम में यह व्यापक तौर पर प्रसारित हुआ।

पूर्वोत्तर भारत के संतों ने कृष्ण को अपना नायक बनाया। जिसमें मणिपुर के लोक नाट्य भी शामिल है। मणिपुर की **गोड़ लीला** के केंद्र में कृष्ण ही हैं। यह एक लोकनृत्य है तथा इसका प्रदर्शन वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से आरंभ हुआ। गौरलीला का स्वरूप दो सांस्कृतिक धाराओं के संयोग से निर्मित हुआ। इनमें से एक मैते परंपरा थी तो दूसरी गौड़िय वैष्णव चिंतन धारा। यह माना जाता है कि सन 1470 में कीपाम्बा महाराज के काल में वैष्णव उपासना शुरू हुई थी। मणिपुर राजनीतिक दृष्टि से काफी अस्थिर रहा। 100 वर्षों में 20 राजाओं ने शासन किया इन वर्षों में यहाँ कई कला रूपों का जन्म हुआ। गरीबनिवास के समय रमानन्दी ने वैष्णव संप्रदाय को राजधर्म घोषित किया। इस समय मणिपुर में गौड़िय संप्रदाय के अनुनायी भी थे। भाग्यचन्द्र के काल में यहाँ वैष्णव धर्म को प्रश्रय मिला। गोड़लीला में मुख्यत: चैतन्यदेव की बाल लीलाएं अभिनीत की जाती है और गौड़ लीला के परयोक्ताओं ने चैतन्य देव को कृष्ण रूप तथा ईश्वरीय गुण से स्थापित करने की कोशिश की है ।

मणिपुर का ही एक और लोक नाट्य है **शुमांग लीला।** शुमांग अर्थात आँगन, आँगन में होने वाली लीला। यह एक सामाजिक लोक नाट्य है। ईष्ट कला रूपों में प्रस्तुत विषय वैष्णव भक्ति से जुड़े हैं, जिसका आधार, रामायण, महाभारत तथा अन्य पौराणिक आख्यान हैं। शुमांग लीला के कथानक सामाजिक संदर्भो से जुड़े होते हैं।

पूर्वोत्तर का एक राज्य है त्रिपुरा। त्रिपुरा भी राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थितियों में काफी उतार चढ़ाव वाला रहा है। वैष्णव लोक नाट्य की परंपरा यहाँ भी रही जिसमें **ढब जात्र** प्रमुख है। ढब जात्र कृष्ण विषयक रंगमंच की देन है। वैष्णव भक्ति की चेतना छाया में इन नाट्य रूपों का जन्म हुआ।

भारत के इतिहास में मध्यकाल व्यापक बदलाव का संकेत लेकर

आता है। एक ऐसे वैचारिक आंदोलन का जन्म इस युग में होता है, जिसने कई सांस्कृतिक धारणाओं को जन्म दिया। इससे निकली शाखाओं ने सामाजिक परिवर्तन की नई बयार को बहाया। राजनीतिक उथल पुथल से त्रस्त जनता के लिए यह आंदोलन विकल्प के तौर पर उभरा। जनता ने आशाहीन दृष्टि से अपने अतीत के नायकों को वर्तमान में स्थापित किया। संतों ने ईश्वर का मानवीकरण कर उसे जनमानस के मन में बसाया।

जनमानस ईश्वर की लीलाओं को देखकर स्वयं की पीड़ा भुला जाता है वह उसे अपने जीवन के अनुभव के रूप में स्वीकार्य करता है, वह ईश्वर को कष्टहरता के रूप में स्वीकार करता है। इसी आंदोलन की देन वैष्णव आंदोलन जिसने दक्षिण से होते हुए उत्तर तथा पूर्व में पैर पसारा। कर्मकांड, जातिवाद के विरुद्ध प्रचारित इस मत को भारतीय जनमानस ने खुली बाँहों से स्वागत किया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भक्ति आंदोलन में अपने विचारों को जनमानस तक पहुंचाने के लिए संतों ने लोक नाट्यों का सहारा लिया साथ ही कई नाट्य रूपों को भी जन्म दिया। दक्षिण से पूर्वी भारत के परंपरागत नाट्यों में एक ही पौराणिक कथानकों का प्रयोग हुआ है। नृसिंहवतार, श्रीकृष्णलीला, रामचरित, महाभारत के दृश्य, यह कथाएँ आसाम से लेकर केरल तक के नाट्यों में मिलती हैं।

पूर्वांचल भारत में जब राष्ट्रवाद की पूर्वपीठिका तैयार हो रही थी तो इसकी भावनात्मक और सामाजिक पृष्ठभूमि वहाँ के लोक गायक तैयार कर रहे थे। भक्ति आंदोलन के बाद यही एक समय था जब मानव को श्रेष्ठ बताया गया। मानवतावाद भक्ति आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

कहा जा सकता है कि लोक जनमानस में प्रचलित लोक कथाओं का अपने आंदोलन के साथ समन्वय संतों ने किया। जिस प्रकार राम लोकजनमानस में पहले से मौजूद थे। मिथिला का लवहेर-कुशेर तथा कुषान गान प्राचीन काल से ही राम कथा के रूप में मौजूद है। उसी

तरह कृष्ण कई उपनामों के साथ लोक में प्रचलित थे। वैष्णव आंदोलन ने इन ईश्वरीय चरित्रों का समाजीकीकरण किया तथा अलौकिक से लौकिक धरातल पर उनको स्थापित किया। लोक में इन दो रूपों के पूर्व प्रचलित होने के कारण ही वैष्णव आंदोलन सम्पूर्ण देश में फै़ल सका तथा राष्ट्र एक सांस्कृतिक सूत्र में जोड़ा ।

मिस्टर अभिमन्यु नाटक में लोकतत्व

पूनम मोहनानी

लोकतत्त्व पर विचार करने से पूर्व 'लोक' शब्द के वास्तविक अर्थ का परिज्ञान आवश्यक है। लोक शब्द संस्कृत की जिस धातु के साथ प्रत्यय जोड़ने से निष्पन्न हुआ है, उस धातु का अर्थ है देखना। इस प्रकार लोक का अर्थ हुआ देखने वाला। कहीं-कहीं लोक का साधारण अर्थ 'ग्राम' भी लिया जाता है। साहित्य में 'लोक' शब्द को जिस रूप में लिया जाता है उसके परिप्रेक्ष्य में यह अर्थ संकीर्ण हो जाता है। साहित्य में 'लोक' शब्द एक विस्तृत क्षेत्र को अपने में आत्मसात किये हुए है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है - "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम' नहीं है बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई, वह समूची जनता है जिनके व्यवहारिक, ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।"[1] इस संबंध में हमें डॉ. श्रीराम शर्मा का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि, "यह शब्द उस विशेष जनसमूह का वाचक है जो साज-सज्जा, सभ्यता, शिक्षा, परिष्कार आदि से दूर आदिम मनोवृत्तियों के अवशेषों से युक्त परिधि को समाविष्ट करता है।"[2]

'लोक' शब्द को अगर विशेषण रूप में लें तो 'तत्त्व' शब्द की व्याख्या करते हुए कह सकते हैं कि वे सभी मूलभूत विचार कण जो

किसी शब्द या शास्त्र का निर्माण करते हों, 'तत्त्व' कहलाता है। अर्थात वे सभी विचार, अन्य विधायक कण, परम्पराएँ आदि जो लोक के अस्तित्त्व को स्पष्ट करते हैं, लोक तत्त्व हैं। लोक तत्त्व पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी साहित्य कोश में लिखा गया है- "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और पाण्डित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं, वे लोक तत्त्व कहलाते है।"[3]

किसी भी साहित्य में वहाँ के सामाजिक-विचार, संस्कार-अनुष्ठान, पर्व-त्यौहार, आचार-विचार आदि के वर्णन से उस समाज की जन-संस्कृति, परम्पराओं, रूढ़ियों एवं विश्वासों को अभिव्यक्ति मिलती है। स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में नाटककारों ने लोक तत्त्व के समावेष के साथ इन विशेषताओं पर भी ध्यान दिया है। नाटक में लोक तत्त्व का एक लम्बा इतिहास है। आचार्य भरत ने नाटक की कथावस्तु के विशय और स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है-

नाना भावोसम्पन्न नाना स्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तामुकंरणं नाट्यमेतन्मयाकृत।।[4]

जब संस्कृत नाट्य परम्परा और चिन्तन का उपसंहार हुआ तब भी लोक की यह नाट्य परम्परा चलती रही जिसे भरत ने लोकधर्मी नाम दिया था। मध्यकाल में जब नाट्य का ह्रास हुआ तो तब भी लोकधर्मी नाट्यकला रासलीला और रामलीला के रूप में जीवित रही। स्वतंत्रता के बाद नाटककार कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से लोक तत्त्व की तरफ अधिक आकर्षित हुए। लोक उनके लिए एक प्रेरक शक्ति के रूप में उपस्थित होकर उन्हें लेखन हेतु बाध्य करता रहा। जन मानस को आन्दोलित करता हुआ लोक साहित्य नाटककारों के लिए जन मानस के निकट पहुँचने का एक सशक्त साधन बन गया। इसी श्रेणी के नाटककारों में से एक हैं डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल। डॉ. लाल ने हिन्दी नाटक के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये हैं उनके नाटकों में 'रातरानी', 'मादा कैक्टस', 'कलंकी', 'सूर्यमुखी', 'कर्फ्यू', 'गंगामाटी', 'दूसरा दरवाजा' आदि उल्लेखनीय

हैं। इन में से कुछ नाटक पौराणिक हैं, कुछ सामाजिक और कुछ विचार प्रधान। इनमें 'अंधाकुंआ', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'सगुन पंछी' और 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' ही मुख्यत: लोक तत्त्व से समन्वित हैं।

'मिस्टर अभिमन्यु' आधुनिक मानव की अभिशप्त नियति 'मिस्टर अभिमन्यु' डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का सुप्रसिद्ध नाटक है। महाभारत के एक मिथकीय चरित्र अभिमन्यु की यन्त्रणा को आधार बनाकर डॉ. लाल ने यह नाटक लिखा है। इसका शीर्षक देखते ही प्राचीन कथा महाभारतकालीन अभिमन्यु का स्मरण हो जाता है जो कि लोक की कथा का प्रतीक है। महाभारत के अभिमन्यु को युद्ध के चक्रव्यूह को भेदने की कला ज्ञात थी लेकिन चक्रव्यूह से बाहर आने की कला मालूम नहीं थी, वह उस व्यूह में घिर जाता है। उसी की भाँति डॉ. लाल का मिस्टर अभिमन्यु चक्रव्यूह भेदकर बाहर नहीं आ पाता है। डॉ. लाल का यह नाटक एक मिथकीय रूपक है। नाटक न तो ऐतिहासिक है, न पौराणिक और न कौरव-पाण्डव दल ही है इसमें। यहाँ जिस कथानक के आधार पर नाटक बुना गया है, वह युग-युगार्थ से जुड़ा होने पर भी उत्पाद्य या काल्पनिक है।

आधुनिक संदर्भो से जुड़े आधुनिकताबोध सम्पन्न इस नाटक को इसलिए अभिमन्यु की संज्ञा न देकर नाटककार ने 'मिस्टर अभिमन्यु' की संज्ञा दी है। महाभारतकालीन अभिमन्यु और आधुनिक युगीन मिस्टर अभिमन्यु में जो फर्क है नाटक की 'भूमिका' में उसकी ओर संकेत करते हुए श्रीकांत वर्मा ने लिखा है कि, "महाभारत के अभिमन्यु और डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के अभिमन्यु में जिसे 'मिस्टर अभिमन्यु' कहकर उन्होंने विडम्बना को उजागर कर दिया है, एक बुनियादी फर्क है। अभिमन्यु सचमुच ही बाहर निकलना चाहता था, जिसके लिए उसने सच्ची लड़ाई लड़ी थी और वह मारा गया था, लेकिन मिस्टर अभिमन्यु बाहर निकलना नहीं चाहता ... उसे केवल भ्रांति है कि वह बाहर निकलना चाहता है। इस भ्रांति को बनाए रखने के लिए वह एक लड़ाई भी लड़ता है जो झूठी नहीं सच्ची लड़ाई है - अन्तर केवल इतना है कि वह एक अनिर्णय में पड़े व्यक्ति की लड़ाई है उस व्यक्ति की नहीं

जो निर्णय ले चुका है। अभिमन्यु की पराजय में ही उसकी जीत निहित थी, मिस्टर अभिमन्यु की हार केवल हार है। वह आधुनिक व्यक्ति की त्रासदी और विडम्बना की तत्सम अभिव्यक्ति है जिसकी मृत्यु महान नहीं और जिसका पराक्रम नहीं।"[5]

युग के बदलने के साथ परिस्थितियाँ भी बदल जाती हैं। इसलिए हर युग का चक्रव्यूह अलग-अलग है। महाभारत काल में वह युद्ध मैदान का व्यूह होता था तो इस युग में चक्रव्यूह अंत:संघर्ष में परिणत हो गया है। लेकिन यह चक्रव्यूह हर युग में होता है। आज हर मानव मन में एक आन्तरिक युद्ध लड़ रहा है, वह अन्दर ही अन्दर अपने प्रश्नों की दुविधाओं से लड़ रहा है लेकिन इस युग की यह त्रासदी है कि अंत:संघर्ष के व्यूह से बाहर नहीं आ पाता है। श्रीकांत वर्मा ने इस नाटक की भूमिका में लिखा है- "चक्रव्यूह हर युग का अपना होता है।.... अभिमन्यु सभी युगों का एक होगा।' .... रूपक का प्रयोग केवल रूपक के लिए न करते हुए लक्ष्मीनारायण लाल ने राजन के अन्त:संघर्ष को, जो कि आज के अभिमन्यु का साक्षात चक्रव्यूह है, उसकी समग्रता में उपस्थित कर हिन्दुस्तानी जिंदगी की त्रासदी को और भी गहरा कर दिया है।"[6]

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने इस नाटक में आजाद भारत के सामान्य तथ्यों को इस प्रकार सामने रखा है कि उनके साथ ही परिवर्तित परिस्थितियाँ भी सामने आ गयी हैं। शासन एवं समाज की हर व्यवस्था में भ्रष्टाचार इस तरह अपना पंजा फैला कर बैठ गया है कि कोई भी उसके पंजे से, उसके व्यूह से निकल नहीं पाता है। व्यवस्था में यह नीचे से लेकर ऊपर तक इस कदर फैला है कि एक व्यूह को तोड़ मनुष्य दूसरे व्यूह में अपने आप को फंसा पाएगा। व्यवस्था का कोई न कोई अंग नागरिकों का गला काटने पर उतारू है चाहे वह सरकारी अधिकारी, कर्मचारी (राजन) हो चाहे वह राजनीतिज्ञ नेता (गयादत्त) चाहे वह पूँजीपति-सरमायेदार (केजरीवाल) हो अथवा चाहे कोई अन्य हो।

निस्संदेह राजन के माध्यम से 'मिस्टर अभिमन्यु' में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने परिवेश की भयावहता और व्यवस्था की विसंगतियों को तो

उभारा ही है, व्यक्ति की विवशता और एकाकीपन की पीड़ा को भी संपूर्तित किया है। यह नाट्यानुभूति मात्र नाटकीय पात्रों तक ही सीमित नहीं रहती वरन् प्रत्येक दर्शक-पाठक की भी हो जाती है। सामाजिक आम पाठक राजन के चरित्र से तादात्म्य कर उसमें अपना प्रतिबिम्ब पाता है, अपने पास-पड़ोस का प्रतिबिम्ब पाता है।

इस नाटक में डॉ. लाल ने पौराणिक पात्र अभिमन्यु के चक्रव्यूह में फंस जाने की विडम्बना को आज के मानव के आन्तरिक व्यूह में फंसे रहने की नियति से प्रतीक रूप में जोड़ दिया है। डॉ. लाल पौराणिक पात्रों को अपने नाटकों में प्रतीक रूप में लाकर आज के पात्रों को अभिव्यक्ति देते हैं। श्री नरनारायण राय के अनुसार नाटक की मूल अनुभूति दर्शकों-पाठकों की संवेदना को उभारना है, माध्यम है राजन का चरित्र। राजन यानि आधुनिक अभिमन्यु, आधुनिक अभिमन्यु जो न तो लड़ पाये और न मर पाये, जो जीवित होकर भी बार-बार मृत्यु का अनुभव करे, जो मर कर भी जीवित रहने के लिए अभिशप्त है। नाटक का उद्देश्य और मूल कथ्य है – "आधुनिक मनुष्य को उसके आंतरिक एवं बाह्य दोनों संदर्भों और परिवेश में रखकर बड़ी ही गहराई और सूक्ष्म दृष्टि से वर्तमान मनुष्य और उसके जीवन की त्रासदी को हमारे सामने रखना।"[7]

दो युगों के साम्य और वैषम्य को उभारने के लिए पौराणिक चरित्र का प्रयोग नाटककार ने जिस उद्देश्य से किया है उसमें वे पूर्ण सफल रहे हैं। अभिमन्यु के आगे 'मिस्टर' शब्द जोड़ने से दो युगों की विभाजक रेखा स्पष्ट हुई है। यह युगीन परिवेश ही है कि पुराना बुद्धिजीवी अपने आदर्श के लिए निर्भय होकर प्राणोत्सर्ग कर सकता था, जबकि आधुनिक बुद्धिजीवी नपुंसक विद्रोह की ध्वजा लिए चलता है और बिल्ली के गले में घंटी बांधने के समय दुम दबाकर भाग जाता है। 'मिस्टर' शब्द में आधुनिक बुद्धिजीवी के प्रति व्यंग्य विद्रूपमयी दृष्टि है जो स्वांत्र्योत्तर भारत की व्यवस्थाजन्य गंदगी में गले तक डूबा हुआ है।

इस प्रकार पौराणिक चरित्र और उसके समकालीन संघर्ष को वर्तमान की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग किया गया है। मिस्टर अभिमन्यु

अतीत और वर्तमान के दोनों धरातलों पर सार्थक अभिव्यक्ति देता है। इस नाटक को मिथक का सहारा भर लेकर लिखा गया है। पर केवल मिथक का आरोप है, किन्तु उसे मिथकीय नाटक कहना उचित नहीं। नाटक की भाषा शुद्ध यथार्थ का सहारा लेकर चलती है और उसमें कहीं मिथकीय प्रयोग का दोहरा आयाम नहीं है।

डॉ. लाल कृत 'मिस्टर अभिमन्यु' मिथकीय प्रयोग है जिसमें वर्तमान का मिस्टर अभिमन्यु महाभारतकालीन चक्रव्यूह से आज भी अपने को घिरा पाता है। महाभारतकाल में चक्रव्यूह बाहर था, आज अन्तर्मन में है, अन्तःसंघर्ष में है और यही अन्तःसंघर्ष आज के अभिमन्यु का चक्रव्यूह है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में लोक तत्त्व नयी दृष्टि एवं नये संदर्भों के साथ प्रविष्ट हुआ। लोक तत्त्व के माध्यम से डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने आधुनिक भावबोध, समसामयिक परिस्थितियों, विसंगतियों, चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मिस्टर अभिमन्यु में लोक तत्त्व के प्रवेश से कथानक में एक नयापन एवं ताजगी लाने वाले नाटककार हैं डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल। इसमें पुराण, लोक कथा, आख्यान, मिथक, इतिहास का समावेश नाटककार का अपनी परम्परा की तरफ रुझान का ही परिणाम है। नयी दिशा यह है कि डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने 'मिस्टर अभिमन्यु' में 'लोक तत्त्व' का नवीन प्रयोग किया है।

कथ्य एवं शिल्प दोनों धरातल पर लोक कथाओं के माध्यम से आधुनिक अनुभूति, संवेदनाएँ एवं समस्याओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है। 'मिस्टर अभिमन्यु' में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने परम्परा से चले आये प्रतीकों की नवीन अर्थ व्यंजना की है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोक जीवन से संबंधित वे पात्र जो अंधविश्वास एवं अंधश्रद्धा के कारण परम्परा से हू-ब-हू चले आ रहे थे आज स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में नवीन रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। इसके पीछे बदलते जीवन मूल्य, अविश्वास, असंतोष आदि प्रमुख कारण हैं। इससे 'मिस्टर अभिमन्यु' जैसे पात्र एक ओर जहाँ आधुनिक जनमानस की विषमताओं को अभिव्यक्ति देते हैं

वहीं दूसरी ओर अपना रूढ़ पुरातन ढांचा भी बदल रहे हैं। जन मानस सचेत हो रहा है, जाग्रत हो रहा है, अपने आप को समझ रहा है और रूढ़ अंधविश्वासों की असलियत से कांप रहा है। इन्हीं परिवर्तनों की ओर यह एक स्वस्थ संकेत है।

संदर्भ

1. लोक साहित्य सिद्धान्त और प्रयोग, डॉ. श्रीराम शर्मा, पृष्ठ 4
2. लोक साहित्य सिद्धान्त और प्रयोग, डॉ. श्रीराम शर्मा, पृष्ट 4
3. हिन्दी साहित्य कोष, ज्ञानमण्डल काशी, 2015 वि., पृष्ठ 685-686
4. हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, कुँवर चंद्र प्रकाश सिंह, पृष्ठ 197
5. मिस्टर अभिमन्यु, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, भूमिका, श्रीकांत वर्मा
6. मिस्टर अभिमन्यु, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, भूमिका, श्रीकांत वर्मा
7. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य-साधना, नरनारायण राय, पृष्ठ 92

'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा पर पुनर्विचार

आशुतोष शुक्ल

'आषाढ़ का एक दिन' एक ऐसा नाटक है जिसमें प्रेम, वेदना, महत्वाकांक्षा के साथ-साथ आत्मपीड़न, तनाव एवं अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से प्रामाणिक जीवन की खोज की गई है। इस नाटक की भाषा ने इन तमाम परिस्थितियों को बड़ी सच्चाई से दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि इस नाटक की भाषा अपने आप में एक उपलब्धि है। भाषिक निपुणता गहरी साहित्य साधना का परिणाम होती है और कहना न होगा कि मोहन रोकश ने इस निपुणता को हासिल कर लिया है।

इस नाटक की भाषा ऐसी अन्तर्ध्यान हो गयी है कि दर्शक एवं पाठक सीधे सीधे कोमल भावनाओं का साक्षात्कार करते हैं। भाषा एक माध्यम के रूप में सामने नहीं आती है। वह अपने को विलीन कर देती है, अपनी अलग सत्ता समाप्त कर देती है और यही उसकी ताकत है।[1] भाषा में भावना और विचार बहते चले जाते हैं।

भाषा शुरू से लेकर अन्त तक कहीं निष्क्रिय नहीं हुई है। भाषा जैसा प्रभाव प्रथम दृश्य में पैदा करती है, वैसा ही प्रभाव आखिरी दृश्य तक बना रहता है। कहने का मतलब यह है कि भाषा जिस संकल्प और संस्कार को लेकर इस नाटक में उतरी है, उसका अन्त तक पालन किया है।

मोहन राकेश ने भाषा को चित्रकला के स्तर तक पहुँचा दिया है। कोई चित्रकार जब एक चित्र को पूर्णता प्रदान कर देता है तब उसमें न तो कोई अन्य रंग भरा जा सकता है और न ही किसी रंग को उसमें से हटाया जा सकता है। चित्रकला की दूसरी विशेषता यह होती है कि जब हम चित्र देखते हैं तो वस्तुतः रंगों को नहीं देखते बल्कि उससे उभरी आकृति को देखते हैं, बिलकुल उसी तरह जैसे घड़ी देखते समय घड़ी नहीं समय देखते हैं।

मोहन राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन' में भाषा से इसी ऊँचाई को छू लिया है। नाटक में प्रयुक्त 'शब्द' परिस्थिति को पूरी तरह उभार कर सामने ला देते हैं। शब्दों का चयन इतना सटीक है कि उन्हें बदलना कठिन है। जैसे "अम्बिका? तुम्हारा तो जीवन ही पीड़ा का इतिहास है।" यहाँ 'पीड़ा' शब्द जो प्रभाव पैदा करता है उसे कोई दूसरा शब्द पैदा नहीं कर सकता। पीड़ा वस्तुतः एक-आध दुःख नहीं बल्कि बहुत से दुःखों का समूह है। दुःखों की घनीभूत अभिव्यक्ति है- पीड़ा और फिर पीड़ा का भी इतिहास अर्थात् तात्कालिक नहीं बल्कि सदियों से चली आ रही। वस्तुतः यह छोटा सा वाक्य अपने में कितना दर्द समेटे है।

मोहन राकेश की भाषा की ताकत उसके शब्द है। शब्दों को साध लेने के कारण ही वह उनका मनचाहा प्रयोग करते है और मनचाहा प्रभाव पैदा कर लेते हैं। वस्तुत बड़े शब्द-शिल्पी की विशेषता न केवल यह होती है कि वह नये-नये शब्दों को गढ़ता है बल्कि प्रचलित शब्दों का भी नया प्रयोग करके नवीन अर्थवत्ता पैदा कर देता है। मोहन राकेश को इसमें प्रवीणता हासिल है। नाटक के प्रथम अंक में अम्बिका राज्य के कर्मचारी के लिए कहती है कि "कभी वर्षों में ये आकृतियाँ यहाँ दिखाई देती हैं।"

यहाँ राजपुरुष के लिए 'आकृतियाँ' शब्द का प्रयोग करके मोहन राकेश ने राज कर्मचारियों को ज्यामितीय अभिव्यक्ति प्रदान कर उनके मानवीय व्यक्तित्व के अभाव को उजागर कर दिया है। राज कर्मचारियों की संवेदनशून्यता को व्यक्त करने के लिए इससे उत्तम शब्द शायद ही

मिलेगा।[2]

प्रयोगधर्मिता किसी भी बड़े साहित्यकार का अनिवार्य गुण होता है। कथ्य के स्तर पर तो प्रयोग करने के अनेक उदाहरण हमें मिल जाते हैं किन्तु भाषा के स्तर पर प्रयोग विरले ही देखने को मिलते हैं। इस नाटक में मोहन राकेश ने शब्दों के अलावा वाक्य विन्यास को भी अपने प्रयोग की भूमि बनाया है। कर्ता से वाक्य को शुरू करने के स्थान पर क्रिया से शुरू करना ऐसा ही एक प्रयोग है।[3] जैसे-

"जानती हूँ, कोई भी रेखा तुम्हें घेर ले, तो तुम घिर जाओगे।"

"गयी थी कि दक्षिण से उड़कर आती बकुल-पंक्तियों को देखूँगी, और देखो सब वस्त्र भिगो आयी हूँ।"

"चाहता हूँ, तुम इस समय अपनी आँखे देख सकती।"

वस्तुतः भाव विह्वलता ही स्थिति के कारण इन वाक्यों से 'मैं' कर्ता का लोप हो गया है, जिससे इनका प्रभाव बहुत अधिक गहरा हो गया है।

सूत्रभाषा का प्रयोग भी मोहन राकेश ने नाटक में खुलकर किया है। जीवन के बड़े-बड़े अनुभवों को एवं वेदना, टीस, विद्रोह एवं प्रेम की गहराई को छोटे-छोटे वाक्यों में पिरो देने के लिए कवि की सहृदयता के साथ ही भाषिक कौशल की भी आवश्यकता पड़ती है। मोहन राकेश का यह रूप हमें नाटक में आद्यान्त दिखलाई पड़ता है। जैसे-

"मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ।"

"अभावपूर्ण जीवन की वह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी।"

"योग्यता एक चौथाई व्यक्तित्व का निर्माण करती है, शेष पूर्ति प्रतिष्ठा द्वारा होती है।"

अच्छी भाषा की पहचान सिर्फ इससे नहीं होती है कि उसमें भाव और विचारों को अभिव्यक्त किया जा सके वरन् भाषा की असली कसौटी वह है कि जिसमें भाषा भावों के वेग को संभालने में सक्षम हो, संवेदना की गहराई को आकार देने में सामर्थ्यवान हो।[4] मोहन राकेश ने इस नाटक में ऐसी ही भाषा प्रयोग की है। 'मल्लिका' 'प्रथम अंक' में

कहती है– "मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ, जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है....।"

अन्तिम वाक्य इस बात का प्रमाण है कि भावोद्रेक के क्षणों में भी भाषा भावों का अन्त तक साथ देती है। भावावेग को पूरी तन्मयता से व्यक्त करने की क्षमता से युक्त है – मोहन राकेश की भाषा। कोमल निश्छल प्रेम भावना की स्वाभाविक अभिव्यक्ति को बड़ी सादगी से इनकी भाषा व्यक्त करती है। ऐसा लगता है कि मानों प्रेम आरोपित, कृत्रिम एवं ऊपरी होने के बजाय नसों में बसा हुआ, हृदय की अतल गहराइयों में छुपा हुआ, बड़े कोमल रूप में सामने आता है।[5] इसी को पुष्ट करते हुए अन्तिम अंक में मल्लिका कहती है– "मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा बने रहे हो। मैंने कभी तुम्हें अपने से दूर नहीं होने दिया। तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है।"

मोहन राकेश की भाषा एक आयामी नहीं बल्कि बहुआयामी है, वह परिस्थितियों एवं पात्रों के अनुसार अपना रंग बदल लेती है। यदि वह कल्पनाबहुल संवेदना को व्यक्त कर सकती है तो वह प्रशासनिक जटिलता एवं शुष्कता को भी प्रस्तुत कर सकती है। प्रशासन की दृष्टि केवल उपयोगिता पर आधारित होती है उसे निश्छल भावनाओं से कोई लेना–देना नहीं होता है। यही नीरस अभिव्यक्त भाषा में अनुस्वार व अनुनासिक के माध्यम से दिखलाई पड़ती है जिसमें लाल फीताशाही की अकर्मण्यता, हठधर्मिता, दंभ एवं विवेक शून्यता को आसानी से देखा जा सकता है। अनुस्वार व अनुनानिक की भाषा ऐसी है मानों वह भी इनके व्यक्तित्व की तरह साँचे में ढली हुई हो, कोई मोड़ नहीं, कोई लचीलापन नहीं। केवल कठोर, शुष्क एवं संक्षिप्त। इस वार्तालाप में भाषा सहृदयता की सबसे ज्यादा जरूरत महसूस करती है।

अनुस्वार – मैं समझता हूँ एक कुम्भ इस कोने में और दूसरा उस कोने में होना चाहिए।

अनुनासिक–पर मैं समझता हूँ कि कुम्भ यहाँ होने ही नहीं चाहिए।

अनुस्वार– क्यों

अनुनासिक–क्यों का कोई उत्तर नहीं।

अनुस्वार– मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ।

अनुनासिक–मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ।

अनुस्वार– तो

अनुनासिक–तो कुम्भों को भी यहीं रहने दिया जाए।

यह वार्तालाप वाक्यों की सपाटबयानी, आरोह–अवरोह के अभाव एवं बलाघात एवं अनुतान की अनुपस्थिति को दर्शाता है जिसके चलते भाषा प्रशासनिक कार्यप्रणाली के बेजान स्वरूप को अंकित करने में समर्थ हो जाती है।

शब्दों की मितव्ययता, अच्छी भाषा का अनिवार्य लक्षण होता है। मोहन राकेश ने इसे अर्जित किया है, जो इनके नाटक में दिखलाई पड़ती है। राजनीति पर मातुल की टिप्पणी कम शब्दों में भी बड़ी अर्थवान बन गई है– "राजनीति में कुछ भी असम्भव नहीं हैं। जितना सम्भव है कि ऐसा न हो, उतना ही सम्भव है कि ऐसा हो। और यह भी सम्भव है कि जो हो, वह न हो....।"

राजनीति पर इतनी सारगर्भित टिप्पणी, इसने कम शब्दों में विरले ही मिलती है।

भाषा की ताकत इस बात से भी आँकी जाती है कि वह तनाव एवं अन्तर्द्वन्द्व को कहाँ तक साधने में कामयाब रही है। तनाव के स्तर को दिखाने के लिए भाषा भी कई स्तरों का प्रयोग करती है। तनाव में वाक्य छोटे–छोटे होते हैं किन्तु बड़े अर्थभेदक होते हैं। भाषा का प्रवाह भी निर्बाध होता है। दूसरे की सत्ता को चुनौती देने के लिए प्रश्नवाचक वाक्यों का भी प्रयोग किया जाता है। अंतिम अंक में जब कालिदास विलोम से घर से चले जाने के लिए कहता है तो विलोम जबाव देता है– "क्यों कि तुम यहाँ लौट आए हो? क्योंकि कि वर्षो से छोड़ी हुई भूमि आज फिर तुम्हें अपनी प्रतीत होने लगी है? क्योंकि तुम्हारे अधिकार शाश्वत है? .... परन्तु समय निर्दय नहीं है। उसने औरों को भी

सत्ता दी है। अधिकार दिये है।"

अन्तर्द्वन्द्व को भी मोहन राकेश की भाषा ने बखूबी उभारा है। अन्तर्द्वन्द्व पैदा करने के लिए इन्होंने विपरीतार्थक शब्दों को एक दूसरे के सापेक्ष रखकर एक ही वाक्य में प्रयोग करने की युक्ति प्रयोग में लाई है। जैसे अभाव और भर्त्सना के सापेक्ष प्रतिष्ठा और सम्मान शब्दों का प्रयोग करके प्रभावान्विति को और गहरा कर दिया है। जैसे- "मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा और सम्मान के वातावरण में जाकर मैं कैसा अनुभव करूँगा। मन में कहीं यह आशंका थी कि वह वातावरण मुझे छा लेगा और मेरे जीवन की दिशा बदल देगा।"

सौन्दर्य को व्यक्त करने वाली इनकी भाषा कोमल, वायवीय एवं कल्पनाबहुल शब्दों का प्रयोग करती है, जिससे मनोरम वातावरण का निर्माण हो जाता है, जैसे- "नील कमल की तरह कोमल और आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमय। मैं चाहती थी उसे अपने में भर लूँ और आँखे मूँद लूँ।"

आदर्श और यथार्थ की टकराहट इस नाटक की महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसके आधार पर अम्बिका और मल्लिका में पीढ़ीगत संघर्ष दिखलाई पड़ता है। इस आदर्श और यथार्थ को भाषा में व्यक्त करने के लिए मोहन राकेश ने अलग-अलग युक्तियाँ निकाली है। यथार्थ की स्थिति को व्यक्त करने के लिए सीधे-सपाट वाक्य जो सीधे मर्म पर चोट करते हैं, का प्रयोग किया है जैसे - अम्बिका कहती है- "वह व्यक्ति आत्मसीमित है। संसार में अपने सिवा उसे और किसी से मोह नहीं।"

× × ×

"किसी सम्बन्ध से बचने के लिए अभाव जितना बड़ा कारण होता है, अभाव की पूर्ति उससे बड़ा कारण बन जाती है।"

वहीं दूसरी ओर मल्लिका का पूरा जीवन ही आदर्श, भावुकता और कल्पना का जीवन है और इसीलिए उसकी भाषा वायवीय है, अमूर्त है, प्रवाहमयी है जैसे- "यह मेरे अभाव की सन्तान है। जो भाव तुम थे, वह

दूसरा नहीं हो सका, परन्तु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जोने कितनी-कितनी आकृतियाँ है। जानते हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण उपार्जित किया है और अब मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं, केवल विशेषण हूँ।"

वस्तुतः इस नाटक की भाषा का शाब्दिक आधारफलक व्यापक एवं विविधतापूर्ण है। इसमें बहुरंगी भाषा का प्रयोग किया गया है जिसके कारण भावना और तर्क, प्रतिस्पर्धा और आत्मसम्मान, भावुकता और परिपक्वता के साथ-साथ आदर्श और यथार्थ को बड़े ही प्रभावी ढ़ंग से अभिव्यक्त किया जा सका है।

संदर्भ

1. शब्दों, शब्द-प्रयोगों, वाक्य विन्यास, संवाद, शैली सभी पर विचार करते हुए मेरी दृष्टि इस बात पर अधिक रही है कि सारी भाषिक संरचना या प्रक्रिया किस प्रकार की अनुभूति की अभिव्यक्ति और अर्थतत्व में सहायक रही है। इसीलिए भाषा को कृति और उसके कथ्य के साथ जोड़कर देखने का मैंने यथाशक्ति प्रयास किया है। - प्रसाद के नाटकः सर्जनात्मक धरातल और भाषिक चेतना-गोविन्द चातक, आत्म राम एण्ड सन्स, 1972, पृष्ठ 9
2. विटगंस्टाइन का प्रसिद्ध वाक्य है कि- "शब्दों का अर्थ प्रयोग पर निर्भर है।" काव्यभाषा तीन निबन्ध रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1998, पृष्ठ 11
3. क्लींथ ब्रुक्स ने 'फण्डामेण्टल्स ऑफ गुड राइटिंग में पूर्ण क्रियाओं को सर्वाधि क महत्व दिया है। - काव्यभाषा पर तीन निबंध-रामस्वरूप चतर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1998, पश. 33
4. शब्द का भी व्यक्तित्व होता है, वह कुछ लोगों के साथ बैठने से इनकार करता है, परन्तु काव्यात्मक भावावेग शब्द को संकेत की तरह प्रयुक्त करके शतरंज के खेल की तरह (सस्यूर) कोई भी काम ले सकता है। - काव्यभाषा पर तीन निबंध रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1998, पृ. 18
5. भाषिक दशष्टि से स्त्री-पुरुष की भाषा में अन्तर होना स्वाभाविक है, यह सर्वस्वीकृत सत्य है। सामान्यतः पुरुषों की भाषा कठोर एवं स्त्रियों की भाषा शिष्ट और विनम्र होती है।" - भाषा, साहित्य और संस्कृति, (सं.), विमलेश कांति वर्मा, ओरियंट ब्लैक स्वॉन-2009, पृष्ठ 41
6. आधारग्रन्थ - आषाढ़ का एक दिन - मोहन राकेश, राजपाल एण्ड सन्स, 2005

नन्दकिशोर आचार्य के नाटकों में स्त्री–चेतना

लहरी राम मीणा

मानव संस्कृति में स्त्री और पुरुष प्राचीन काल से एक दूसरे के पूरक रहे है। यानी एक बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना असभंव। स्त्री समाज का आधार स्तम्भ ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज, परिवार एवं राष्ट्र का उत्थान–पतन भी उसी पर निर्भर करता है। प्राचीन काल में स्त्री–पुरुष एक साथ मिलकर कार्य करते थे और समाज में यह कहावत प्रचलित है कि 'यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवता' यानी जहां नारियों की पूजा होती है वहां देवता निवास करते हैं। उस युगीन समय में नारी को समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त था और पुरुष की प्रेरणा स्त्रोत एवं अर्द्धांगिनी माना जाता था। यहाँ तक आधुनिक युगीन समय में छायावादी कवियों ने स्त्री को देवी, माँ, सहचरि एवं प्राण कहकर पुकारा और उसे पुरुष की प्रेरक शक्ति माना।

आगे चलकर मध्यकाल में शक, कुष्ण, हूण, यवन एवं मुगलों आदि के आगमन से भारतीय स्त्रियों का महत्व कम हुआ और आधुनिक काल या पुर्नजागरण आंदोलन के प्रभाव स्वरूप नारी स्वतन्त्रता आंदोलन में आगे आयी, पुरुषों के साथ अपनी मुक्ति के लिए आंदोलन चलाये और शिक्षा के प्रति जागरुकता प्राप्त की। स्त्री एक मां, बहिन, पत्नी, बेटी

सभी रूपों में पुरुष को प्रगति पथ पर अग्रसर करती हुई नजर आयी। वर्तमान समय में हम देख सकते हैं कि वह अपनी अस्मिता को ही नहीं बचाती बल्कि आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ती हुई दिखाई दे रही है।

आधुनिक काल के नाटककार नन्दकिशोर आचार्य जिन्होंने अपने नाटकों में इतिहास एवं पौराणिक कथाओं में स्त्री को आधार बनाकर वर्तमान युगीन समाज की समस्याओं को बताने का प्रयास किया है। इन्हीं समस्याओं में स्त्री की दशा, दिशा एवं दृष्टि से जुड़ी समस्याये एवं जीवन की विवशता, समाज की परम्परागत सोच से संघर्ष करती स्त्री, विभिन्न प्रकार के अत्याचार, शोषण, एवं अपनी अस्मिता को बचाये रखने में एवं पुरुष की प्रेरणा शक्ति, संरक्षिका, पथ–प्रदर्शिका एवं सहयोगिनी के अनेक रूपों में हमारे सामने आती है।

नन्दकिशोर आचार्य का नाटक 'जिल्ले–सुब्बानी' ऐतिहासिक रूप से राजनीतिक घटनाक्रम पर आधारित है। यह एक ऐसा नाटक है जो वर्तमान समय के विकृत एवं निरंकुश सच को सामने लाता है इस नाटक में नारी पात्र 'निकहत बेगम' एवं 'रानी सत्यपाली' 'दोनों स्त्रियां शोषित होते हुए भी आधुनिकता की तरह अपने अधिकारों के लिए विरोध करती हुई नजर आती है। आचार्य जी का दूसरा नाटक 'किमिद्म–यक्षम्' व्यक्ति की अस्मिता की तलाश का नाटक है यह पूरा नाटक फैंटेसी ओर यथार्थ तथा अतीत एवं वर्तमान के ताने–बाने की मानसिकता में बुना हुआ लगता है। स्त्री चेतना की दृष्टि से इस नाटक में धाय, गुंगी–बहरी लड़की एवं प्रोफेसर की माँ का चित्रण किया गया। आचार्य जी का अगला नाटक जूते में ऐसी स्त्री पात्र (जुलेखा) का चित्रण किया है जो स्वयं तो कर्म पथ पर है परन्तु इसके साथ–साथ अपने पति एवं बेटे को भी कर्म पथ की ओर अग्रसर करने पर बल देती है।

आचार्य का 'गुलाम बादशाह' एक ऐतिहासिक नाटक है जो बलबन के अन्तर्द्वन्द्व एवं उनके अन्तिम समय को लेकर लिखा गया नाटक है 'गुलाम बादशाह' में 'शहजादी–बेगम' एवं गज़ल–बेगम दो ऐसी स्त्री पात्र है जो अपने–अपने अधिकारों के प्रति लड़ती दिखाई देती है। आचार्य जी का 'हस्तिनापुर' एवं 'देहान्तर' पुराण कथा आधारित नाटक है 'हस्तिनापुर'

में महाभारत कालीन कथा को आधार बना का लिखा गया तथा इस नाटक में तत्कालीन समाज में स्त्री की दशा, दिशा एवं दृष्टि की विवशता पर प्रकाश डाला गया। यह स्त्री जीवन की त्रासदी के माध्यम से आम स्त्री की दयनीय स्थिति को चित्रित करता है। यह हर उस दलित और पीड़ित स्त्री की कथा है जो पुरुष वर्ग द्वारा शोषित एवं पीड़ित होकर भी उसके द्वारा किए गए अन्याय और अत्याचार के खिलाफ आवाज बुलंद करती है। नाटक 'देहान्तर' में 'देवयानी' एवं 'शर्मिष्ठा' के माध्यम से लेखक ने पुरुष इच्छा के बोझ से दबी उस स्त्री जाति का वर्णन किया है कि जब तक स्त्री स्वयं जाग्रत नहीं होगी तब तक वह इसी तरह अन्याय एवं अत्याचार सहती रहेगी।

नन्दकिशोर आचार्य का ऐतिहासिक नाटक 'जिल्ले-सुब्हानी' ऐतिहासिक रूप से राजनीतिक घटनाक्रम पर आधारित है यह एक ऐसा नाटक है जो वर्तमान समय के विकृत एवं निरकुंश सच को सामने लाता है जिस तरह 'गुलाम बादशाह' में बलबन को अपने सगे-सम्बंधियों से कोई मतलब नहीं था, उसे मतलब था तो सिर्फ सत्ता एवं कुर्सी से। उसी तरह 'जिल्ले-सुब्हानी' को अपनी कुर्सी, अपनी ताकत, अपनी अय्याशी एवं अपनी सत्ता से मतलब है उसका उद्देश्य सत्ता आते ही सबसे पहले अपने करीबी लोगों को हटाना। जैसा कि नाटक का एक पात्र हसन कहता है "हकीकत ये है, गाजि मलिक कि इस मुल्क में हुकूमत हर खासओ-आम पर सवारी का नाम है।"[1]

इस नाटक में दो नारी पात्र 'निकहत बेगम' जो मुबारकशाह की बीवी और 'रानी झत्यपाली' जो पहले अल्लाउद्दीन की बेवा थी परन्तु बाद में मलिक काफूर के हाथों में आ जाती है। ये दोनों स्त्रियां शोषित होते हुए भी आधुनिक नारी की तरह विरोध करती हुई नजर आती है। 'निकहत बेगम' अपने अधिकारों के प्रति विरोध प्रकट करती हुई कहती है "मरहूम सुल्तान भी शाहे-हिन्दोस्तां ही थे। उनसे भी कभी डरे नहीं हम। जिस की जिन्दगी मौत से बदतर हो उसे क्या डराएँगे मौत से।"[2] हसन जब निकहत को मलिक काफूर के हिजड़े/नामर्दी की चर्चा एवं रानी सत्यपाली को प्राप्त करने को कहता है जब निकहत बेगम कहती है कि 'हमारा अपना भी एक वजूद है।'[3] इस प्रकार आचार्य जी के नाटकों में नारी शोषित होते हुए भी अपनी अस्मिता को कायम रखने के लिए संघर्ष या विरोध करती हुई नजर आती है।

आचार्य जी का दूसरा नाटक 'किमिद्म यक्षम' व्यक्ति की अस्मिता की तलाश का यह पूरा नाटक फैंटेसी और यथार्थ तथा अतीत एवं वर्तमान के ताने बाने की जटिल बुनावट (मानसिकता) में बुना हुआ लगता है। व्यक्ति की अस्मिता जो वर्तमान होते हुए भी अतीत से जुड़ी हुई है। स्त्री चेतना की दृष्टि से इस नाटक में धाय, गुंगी-बहरी लड़की एवं प्रोफेसर की माँ का चित्रण किया गया है इसमें नाटक का नायक प्रोफेसर (पुरातत्ववेत्ता) इस बात को लेकर परेशान है कि उसका अतीत क्या है? अपने पिता की, अपने इतिहास की मूल की खोज जारी रखने के लिए वह बीस साल बाद घर लौटता है। प्रोफेसर द्वारा बचपन में माँ से किया प्रश्न कौंध जाता है- 'मेरे पिता कहाँ है?' यहाँ से शुरू होता है नाटक का पहला फ्लैश बैक। इसी प्रकार यह नाटक अतीत एवं वर्तमान के साथ-साथ फ्लैश बैक के दृश्य से शुरू होता है।

नाटक में गुंगी-बहरी लड़की को धाय द्वारा प्रोफेसर की बहन बताया जाता है और वह प्रोफेसर की देखभाल में हमेशा व्यस्त रहती है। प्रोफेसर के दुखी होने पर उसके चेहरे पर दु:ख के भाव प्रकट होते दिखाई देते है और प्रोफेसर के खुश होने पर उसके भी चेहरे पर खुशी के भाव नजर आते है। जब लड़की चाय का गिलास देती है तो वह चुस्की लेता हुआ प्रशंसा करता हुआ कहता है "वाह! क्या चाय है। गर्मागर्म! कितना ख्याल करती हो तुम मेरा।"[4] तो इससे यह प्रकट होता है कि बहन का भाई के प्रति कितना प्रेम है।

इस नाटक में धाय माँ का व्यक्तित्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं है वह एक ऐसी मां की भूमिका निभाती है कि वह प्रोफेसर का अतीत जानते हुए भी उसे वापस जाने के लिए कहती है, क्योंकि वह जानती है कि इससे अपना अतीत जानने पर एक दिन दु:ख होगा। और इसी वजह से धाय माँ के द्वारा प्रोफेसर का अतीत जानते हुए भी नहीं बताना। वह एक स्थान पर कहती है "जिन्दा रहने के लिए कुछ भी जानना जरूरी नहीं।

जो जान लेता है वह कई बार जिन्दा ही मर जाता है।"[5] फिर भी वह एक माँ की तरह प्रोफेसर की देखभाल करती रहती है स्वयं प्रोफेसर एक स्थान पर कहता है– "तुम्हारा कुछ भी समझ में नहीं आता। कभी तुम संभालती हो, कभी डराती हो। क्या चाहती हो?"[6] वह हमेशा एक माँ की तरह उसे दुखों एवं परेशानियों से बचाना चाहती है, वह जानती है कि प्रोफेसर को अपने अतीत का पता चलते ही दुख होगा इसलिए वह हर कदम पर सचेत करती हुई कहती है "समझते क्यों नहीं? बड़ा खतरनाक है यह खेल जो तुम खेल रहे हो।"[7]

आचार्य द्वारा रचित 'जूते' नाटक में ऐसी स्त्री पात्र का चित्रण किया गया है जो पति की तरह भाग्य पर भरोसा न करके कर्म पर भरोसा करती है। यह नाटक 'अरेबियन नाइट्स' की कथा पर आधारित है इस नाटक में अबू कासिम के माध्यम से लेखक आधुनिक युगीन उन व्यक्तियों पर तीव्र कटाक्ष करता है जो पूरी तरह से अपने भाग्य पर निर्भर रहते हैं और कर्म को निरर्थक समझने लगते है। क्योंकि जीवन में मनुष्य को कर्म करते रहना चाहिए, फल की इच्छा नहीं। बिना कर्म के कुछ प्राप्त नहीं हो सकता।

नाटक में एक ही स्त्री पात्र (जुलेखा) है जो कर्म को ही जीवन का मुख्य कार्य मानती है यह अबू कासिम की बीवी है जो भाग्य को सर्वोच्च मानता है यह एक ऐसी महिला है, जो कर्म प्रधान तो है ही साथ ही छायावादी स्त्रियों की तरह निराशा में आशा का संचार करने वाली महिला भी है। जब बेटा रशीद पिता द्वारा जूते खरीदे जाने के विषय में अपनी माँ से पूछता है तो जुलेखा कहती है– "खरीदा? बेवकूफ समझते हो अपने बाप को? अरे, वो मेरा शौहर है। खरीदे होते तो अपना शौहर बनाती मैं उसे? जो चीज मुक्त मिल सकती है वो खरीदे क्यूँ?"[8] इसी कारण वह अपने बेटे को पिता की तरह भाग्य पर भरोसा न करके कर्म की ओर अग्रसर करने पर बल देती है।

वह एक ऐसी महिला है जो विपरीत परिस्थितियों में भी जब सम्पूर्ण सम्पति सरकार द्वारा जब्त कर ली जाती है तब भी धैर्य नहीं खोती है। और पति को धैर्य के साथ आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करती हुई

कहती है। "ऐ हें, मैं कहती हूँ अब हो गया सो हो गया। उठो, खाओ पिओ। काम धंधा करो। फिर कमा लेंगे।"[9] इस तरह हम देखते है कि जुलेखा जैसी स्त्री आज की नारी की तरह विपरीत परिस्थियों में पति को निराश ही नहीं होने देती बल्कि कठिन परिस्थितियों से लड़ने के लिए हिम्मत बंधाती रहती है।

नाटककार आचार्य द्वारा कृत 'गुलाम बादशाह' एक ऐतिहासिक नाटक है जो बलबन के अंतर्द्वंद्व एवं और उनके अन्तिम समय को लेकर लिखा गया नाटक है। बलबन इल्बरी वंशज का था और वह तुगरिल वंश का गुलाम रह चुका था। उसके मन में हमेशा तुगरिलवंश को समाप्त करने की भावना रहती थी वह कहता था कि तुगरिल वंश के किसी भी वफादार को जिंदा नहीं देखना चाहता।

'गुलाम बादशाह' नाटक में 'शहजादी बेगम' और 'गजल बेगम' दो ऐसी स्त्री पात्र है, जो अपने–अपने अधिकारों के प्रति लड़ती दिखाई देती है। 'गजल' बलबन की बेटी और नासिरुद्दीन की पत्नी है तथा 'शहजादी बेगम' जो बलबन की पत्नी एवं नासिरुदीन की बेटी है। परन्तु दोनों, एक में बाप के प्रति नफरत है तो दूसरी में ससुर के प्रति। दोनों में रोष एवं विरोध की भावना प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से किसी ना किसी रूप में प्रकट होती हुई दिखाई देती है। 'शहजादी बेगम' बुगरा खां से कहती है कि जब आपको कोई सियासत नहीं चाहिए तो इस पर अधिकार हमारे पुत्र (कैकुबाद) का बनता है। इसका विरोध करती हुई कहती है कि "अपनी इकलौती बेटी को बेवा कर दिया सुल्तान ने! जहर दे दिया मरे बालिद को। उस सल्तनत पर अब हम से ज्यादा हक किस का बनता है।"[10]

सियासत लेने के लिए जब बुगरा खाँ तैयार नहीं होता है तब वह अपना कर्तव्य समझती हुई कहती है कि "आप को नहीं करनी होगी। पर मैं एक फर्जशनास माँ भी हूँ और फर्जशनास बेटी और बीवी भी।"[11]

इस तरह स्पष्ट है कि एक में अपने ससुर के प्रति तीव्र रोष है तो दूसरी तरफ पति के प्रति प्रेम और मन में पुत्र के प्रति कर्तव्य की भावना भी दिखाई देती है। 'गुलाम बादशाह' में चित्रित स्त्री जाग्रत एवं

कर्तव्यशीलता से युक्त दिखाई देती है। जिस तरह नाटक के पात्र 'गजल बेगम' के मन में अपने पति के हत्यारे (पिता) के प्रति नफरत एवं रोष से भरा गुस्सा भी है तो कहीं ना कहीं प्रेम तथा आत्मीयता की भावना भी। जब अन्तिम समय में बलबन अकेले पड़ जाते है तो वह अपने पिता से मिलकर एक पुत्री का पिता के प्रति कर्तव्य का पालन पूरा करती हुई नजर आती है। वह अन्दर प्रवेश करती हुई कहती है– "चौबदार का कुसूर नहीं है। मैं अपनी जिम्मेदारी पर आयी हूँ। उसे शक था शायद इजाजत न मिले। मगर मैं बीमार वालिद को देखे बिना नहीं लौट सकती थी।"[12]

अन्त में गजल 'तिमारदार' शब्द का प्रयोग इसलिए करती है कि जब बलबन ने अपनी सल्तनत के लिए सगे सम्बन्धियों को भी नहीं छोड़ा, तो अब उसे तिमारदारों से ही सेवा करानी चाहिए, सगे सम्बन्धियों एवं अपने पुत्रों से उम्मीद नहीं रखे। इस प्रकार 'गजल' के कहे शब्दों से यह प्रतीत होता है कि एक ओर पिता के प्रति प्रेम एवं इज्जत की भावना है तो दूसरी तरफ पति के हत्यारे के प्रति क्रोध भी प्रकट होता दिखाई देता है।

आचार्य का 'देहान्तर' नाटक महाभारत कालीन परिवेश को आधार बनाकर लिखा गया, जिसमें राजा ययाति एवं शर्मिष्ठा को कथा का केन्द्रीय विषय बनाया। यह नाटक गिरीश कर्नाड के 'ययाति' एवं 'हयवदन' के बीच की कड़ी जैसा लगता है। इसमें पात्रों के माध्यम से आज के स्त्री पुरुषों एवं मानव की मानसिक स्थिति, जीवन में व्याप्त तनाव, घुटन, संघर्ष एवं अंसतोष को व्यक्त किया गया है। इसी को ध्यान में रखते हुए जयदेव तनेजा कहते है 'महाभारत कालीन पात्रों और पुराणकालीन परिवेश के माध्यम से आज के व्यक्ति की जटिल मानसिकता को व्यक्त करता है नन्दकिशोर आचार्य का नाटक देहान्तर। ... देह सम्बन्धों के अद्‌भुत उलझाव का यह प्रभावशाली नाटक गिरीश कर्नाड के ययाति और हयवदन के बीच की कड़ी जैसा लगता है।'

आज के समय में व्यक्ति की मानसिक कुण्ठा एवं असंतोष व्यक्ति में किस प्रकार भरा है यह 'देहान्तर' नाटक में आसानी से देखा जा

सकता है। देहान्तर नाटक में स्त्री पात्र शर्मिष्ठा, देवयानी, बिन्दुमति को मुख्य रूप से चित्रित किया है। स्त्री के रूप में इसी अंसतोष एवं अतृप्ति का वर्णन लेखक ने बिन्दुमति के माध्यम से किया। वह एक ऐसी स्त्री है जिसके सामने प्रेम का कोई महत्व नहीं है। भोग का आनन्द ही सबकुछ है व्यक्ति तो मात्र साधन है उसे प्राप्त करने का। वह कहती है "मृत्युलोक में। हम व्यक्ति को नहीं पौरूष को भोगती है, पौरूष सनातन तत्व है।"[13] इस पौरुष को प्राप्त करने के लिए वह कितने ही पर-पुरुषों से सम्बन्ध बना सकती है। बिन्दुमति कहती है, "मैं देवयोनि हूँ। एक ही वंश की कई पीढ़ियों से सम्बन्ध बना सकती हूँ।"[14] ऐसी स्त्रियों के लिए जीवन एक खेल होता है वह किसी भी समय किसी से भी सम्बन्ध जोड़-तोड़ सकती है। फिर भी बिन्दुमति के जीवन में हमेशा अतृप्ति ही रहती है और यह अतृप्ति है पुरूष को पाने की जिससे वह हमेशा ययाति में खोजती रहती है।

इसी तरह आचार्य ने ययाति एवं बिन्दुमति के माध्यम से आधुनिक युगीन जीवन में कुछ ऐसी स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का वर्णन किया है जो पश्चिमी सभ्यता से पूरी तरह प्रभावित होते दिखाई देते है जिनकी सोच में मानव के लिए कोई स्थान नहीं है। इस नाटक में 'शर्मिष्ठा' एक ऐसी स्त्री पात्र है जो आदर्श भारतीय स्त्री का प्रतीक ही नहीं बल्कि आदर्श माता का भी प्रतीक है। यह उसके संस्कारों का प्रभाव ही तो है, जो पुरुष अपना अमूल्य जीवन वृद्ध पिता को समर्पित करता है। पुत्र द्वारा किए इस त्याग से माता शर्मिष्ठा का सिर गर्व से ऊंचा हो जाता है और वह कहती है "उसने मेरे मातृत्व को गौरव दिया है। कितने ऐसे है जो अपने पिता के लिए ऐसा त्याग कर सके।"[15]

'शर्मिष्ठा' का प्रेम एक भारतीय नारी का प्रेम है जो कठिन परिस्थितियों में भी अपने पति का साथ देने के लिए तैयार होती है लेकिन अनुचित कार्य के लिए नहीं। पति के साथ संभोग करना उसे पुत्र के साथ संभोग करने जैसा लगता है जो उसे कभी स्वीकार्य नहीं है वह कहती है "मैं वृद्ध और अशक्त चक्रवती की सेज पर जा सकती थी। उसे ही अपना प्राप्य समझकर संतोष कर लेती। लेकिन घोर व्यभिचारिणी

भी अपने ही पुत्र की सेज पर नहीं जायेगी।"[16]

यह उस स्त्री की चारित्रिक दृढ़ता एवं जागरुकता ही है जिसके कारण वह अपने पति को अपनी ओर आकर्षित नहीं होने देती। पत्नी होने के कारण वह न तो राजा को त्यागती है और न ही अपने मातृत्व को कलंकित होने देती है। अत: नाटक में इस पात्र के माध्यम से भारतीय नारी के आदर्श रूपी कर्तव्यों के पालन के साथ-साथ स्त्री जीवन की दृढ़ता एवं मातृत्व की महत्ता को भी बनाये रखने में सक्षम होती है।

इस नाटक में 'बिन्दुमति' ऐसी स्त्री चेतना का प्रतीक है जो भ्रमित व्यक्ति को सही रास्ते पर लाने की सामर्थ्य रखती है। एक जगह वह राजा ययाति को उसकी वास्तविकता से अवगत करा कर शर्मिष्ठा द्वारा राजा की अस्वीकृति का कारण स्पष्ट करते हुए कहती है- "आपके इस पौरुष ने शर्मिष्ठा की देह से जन्म लिया है। शर्मिष्ठा देवी अपने ही पुत्र के पौरुष को भोगना कैसे स्वीकार करती?"[17]

लेखक ने शर्मिष्ठा के माध्यम से आधुनिक नारी की जागरुकता, आत्मसंयम, नारी अस्मिता, चारित्रिक दृढ़ता एवं मातृत्व को रेखांकित किया। दूसरी तरफ बिन्दुमति के माध्यम से छायावादी नारियों की तरह व्यक्ति को उसका आत्मसाक्षत्कार कराने में समर्थ स्त्री के रूप में प्रस्तुत किया है।

नन्दकिशोर आचार्य ने अपने नाटक 'हस्तिनापुर' में स्त्री पात्र अम्बिका, कुंती सत्यवती एवं शुभा के माध्यम से आधुनिक युगीन स्त्री को उसके अधिकारों के साथ-साथ उसकी अस्मिता एवं मुक्ति के प्रति जागरूक किया है। इस नाटक में यद्यपि स्त्री, पुरुष के समक्ष अपने अधिकारों के लिए असफल रही परन्तु समय-समय पर पुरुष के अनुचित अधिकार का विरोध भी करती रही तथा उसके समक्ष अपनी अस्मिता का प्रश्न भी उठाया और अपने महत्व को प्रतिष्ठित भी किया। नाटक में 'कुंती' सत्यवती के पुत्र पांडु की धर्मपत्नी है जो पांडु को स्त्री संसर्ग से वंचित होने का शाप प्राप्त हो जाने पर, पांडु की आज्ञा से ही वंश वृद्धि के लिए नियोग द्वारा पांच पुत्रों को जन्म देती है।

कुंती के अलावा 'सत्यवती' जो महाराज शांतनु की पत्नी है। वह शांतनु की मृत्यु के बाद राज्य की बागडोर स्वयं संभालती है उसे राज्य की संरक्षिका की चिंता के साथ-साथ अपने पुत्रों एवं पति की मृत्यु एवं उत्तराधिकार की चिंता भी रहती है। पुत्र प्राप्ति के लिए राज वधुओं को नियोग के लिए राजी करना भी उसी का उत्तरदायित्व है। इसलिए 'सत्यवती' अपनी पुत्रवधु 'अम्बिका' को नियोग हेतु राजी करने का प्रयास करती है। "उत्तराधिकारी आवश्यक है, बेटी। राज्य के लिए भी और वंश के लिए भी। ... इसलिए तुम्हारे पास आयी हूँ, बेटी।"[18]

नाटक में 'अम्बिका' के रूप में ऐसे स्त्री चरित्र का चित्रण किया है जो माता सत्यवती की आज्ञा का पहले तो विरोध करती है परन्तु बाद में नियोग के लिए तैयार हो जाती है, परन्तु जब वह देवर के रूप भीष्म के स्थान पर व्यास को पाती है तो आसानी से उसे स्वीकार नहीं करती है और कहती है "आप देवर? नहीं, नहीं, यह कैसे हो सकता है? आप तो ऋषि पराशर के पुत्र है।"[19] जब भीष्म दोबारा उसके पास व्यास से नियोग का प्रस्ताव लाते है तो वह अपने को पुरुष की सम्पत्ति न समझ करके भीष्म के रूप में सम्पूर्ण पुरुष-जाति के समक्ष स्त्री की अस्मिता का प्रश्न उठाती हुई कहती है "धर्म की मर्यादा केवल स्त्री के लिए ही नहीं, उसके प्रति पुरुष का भी दायित्व है।"[20]

जब व्यास के द्वारा, नियोग से संतान उत्पन्न करना, स्त्री का कर्तव्य पालन बताया जाता है तो अम्बिका का स्वाभिमान जाग्रत हो उठता है इसलिए वह व्यास के रूप में सम्पूर्ण पुरुष जाति के समक्ष अपनी अस्मिता का प्रश्न उठाती हुई कहती है। "स्त्री की कोई स्वतंत्र अस्मिता नहीं है, प्रभु? वह भी क्षेत्र की तरह सम्पति है?"[21] और इसे स्थापित करती हुई स्त्री जाति के सम्मान को स्थापित करती है।

इसके अलावा 'शुभा' इस नाटक की एक ऐसी महिला पात्र है जो दासी होते हुए भी राज्य के सम्पूर्ण कार्य एवं घटनाओं की समस्त जानकारी उसे मालूम है और वह पूरी तरह विद्रोहिणी एवं जागरुकता के साथ कहती है "तुमने देखा होता वह सब। अनुभव की होती युवती . .. यह सब देख पाते तब तुम जानते वेदना क्या होती है।"[22]

जब भीष्म सत्यवती के पक्ष में यह व्यंग्य वाणी छोड़ते है कि स्त्री की कोई जाति नहीं होती। वह पति की जाति से ही पहचानी जाती है तभी 'शुभा' इसका विरोध करती हुई कहती है। "मैं स्त्री नहीं हूँ? यह तर्क मुझ पर क्यों नहीं लागू होता?"[23] इसमें यह स्पष्ट होता है कि नाटककार यहाँ शुभा के माध्यम से सम्पूर्ण स्त्री जाति का महत्व स्थापित करना चाहता है तथा अपने पुत्र के लिए ही नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र की सुरक्षा तथा हित के प्रति भी सचेत स्त्री है यह बात उसके इस कथन से स्पष्ट होता है "मैं भी राज्य की हित की दृष्टि से कह रही थी। विदुर जैसा विवेकवान शासक सदैव नहीं मिल सकता।"[24]

निष्कर्षतः यही कहा जाता है कि नारी हमारे समाज का आधार स्तम्भ है जिस पर परिवार, समाज एवं सम्पूर्ण राष्ट्र का उत्थान-पतन निर्भर करता है। यह पुरुष की अर्द्धांगिनी ही नहीं प्रेरक शाक्ति भी बनकर हमारे सामने कई रूपों में आई। हमें पुरुष की परम्परागत मानसिक सोच में परिवर्तन लाना होगा कि वह स्त्री पर अपने अधिकार न थोपे, उससे स्वतंत्र फैसले लेने के लिए आजादी प्रदान करे तथा उनकी भावनाओं एवं इच्छाओं पर कुठाराघात नहीं करें। तभी हमारे समाज, परिवार एवं देश की उन्नति संभव हो सकेगी।

संदर्भ

1. जिल्ले-सुब्हानी, पृष्ठ 76
2. वही, पृष्ठ 69
3. वही, पृष्ठ 70
4. किमद्म यक्षम्, पृष्ठ 16
5. वही, पृष्ठ 28
6. वही, पृष्ठ 17
7. वही, पृष्ठ 31
8. जूते, पृष्ठ 122
9. वही, पृष्ठ 150
10. गुलाम बादशाह, पृष्ठ 37
11. वही पृष्ठ 41

12. वही पृष्ठ 57
13. देहान्तर, पृष्ठ 38
14. वही, पृष्ठ 38
15. वही, पृष्ठ 22
16. वही, पृष्ठ 31
17. वही पृष्ठ 40
18. हस्तिनापुर, पृष्ठ 84
19. वही, पृष्ठ 88
20. वही, पृष्ठ 85
21. वही, पृष्ठ 89
22. वही, पृष्ठ 114
23. वही, पृष्ठ 105-06
24. वही, पृष्ठ 107

तीन एकांत : लेखक और निर्देशक के वक्तव्यों के बीच विधा का संरचनात्मक रूपांतरण'

रोहित कुमार

"अंधेरा। मंच के बीचों-बीच बाईं ओर रखी बेंच पर प्रकाश। उस पर एक बूढ़ा व्यक्ति अखबार पढ़ने में व्यस्त। उसके आगे एक पैरेम्बुलेटर खड़ी है। पृष्ठभूमि में चर्च की घंटियाँ। दाईं ओर से नायिका का प्रवेश। घंटियों को सुनते-सुनते बाई बेंच की ओर लौटती है"[1]

प्रस्तुत रंगसंकेत निर्मल वर्मा की कहानी 'धूप का एक टुकड़ा' को 'तीन एकांत' नाटक में परिणत करने का एक माध्यम है। ऐसे कई माध्यम (रंगसंकेत) 'तीन एकांत' में तो दिखाई देते हैं किन्तु मूल कहानी में नहीं। यह रूपांतरण का वह संकेत है जहाँ दो विधाओं (स्रोत विधा से लक्ष्य विधा) के बीच कोई महीन रेखा खींची जा सकती है। इसका कारण यह है कि स्रोत विधा स्वयं को लक्ष्य विधा में इस प्रकार समो देती है कि उसके अवयवी प्रकार्य लक्ष्य विधा के प्रकार्य बन जाते हैं और लक्ष्य विधा का अपना फ्रेम अपने प्रकार्य को संवर्धित कर प्रभाव

पक्ष को और भी सदृढ़ कर देता है।

निर्मल वर्मा अपने लेखकीय वक्तव्य में इस महीन रेखा को इंगित करते हैं- "नाटकीयता हर कला-विधा में मौजूद रहती है, किन्तु हर विधा नाटक नहीं होती।"[2] संभवतः महीन रेखा 'नाटकीयता', वह प्रकार्य है जो नाटक का गुण है, उससे पृथक विधाओं में हो या न हो नाटक में उसका होना आवश्यक है। यह आवश्यकता मंचीयता की योग्यता है और योग्यता विधा के समक्ष चुनौती है कि कैसे? "कहानी के मूल स्वभाव को विकृत किए बिना उसे मंच पर इस परह प्रस्तुत किया जाए, जहाँ वह एक ही समय में नाटक का 'इल्यूजन' दे सके।"[3]

इस 'इल्यूजन' को निर्देशक देवेन्द्र राज अंकुर मंच की सीमा में देखने का प्रयास करते हैं- "पूरी प्रस्तुति के दौरान मेरा यही प्रयास रहा कि स्वयं कहानियों के कथ्य के बीच में उभरते दृश्य-बिंबो को ही एक निश्चित मंच के फ्रेम की सीमा में कितनी दूर तक पकड़ा जा सकता है - किसी प्रकार के बाह्यारोपण को तनिक भी प्रश्रय दिए बिना।"[4] निर्देशक का यह सूक्ष्मांकन हमें उस ओर ले जाता है जहाँ 'कथ्य के बीच से उभरते दृश्य-बिंब' शब्दों के महत्व को प्रतिपादित करते है। निर्मल वर्मा भी लिखते हैं- "हर शब्द अपने में एक ऐक्ट है, महज ऐक्ट करने का माध्यम नहीं।"[5]

लेखक और निर्देशक के वक्तव्यों को आमने-सामने रखकर देखने से यह ज्ञात होता हे कि कहानी के मंचन में कृति का प्रत्येक शब्द स्वयं में एक स्थिति है, उसे बोलना ही स्थिति को मंचित करना है। यह संयोग ही है कि तीनों कहानियाँ जिन्हें 'तीन एकांत' में एक स्थान देकर मंचित किया गया, मोनोलॉग (एक लम्बा संवाद) रूप में लिखी गई हैं। "ये कहानियाँ अकेलेपन के कुछ लक्षणों में पात्रों के स्वयं अपने साक्षात्कार की कहानियाँ हैं।"[6] इसे एक सूत्र में पिरोते हुए निर्देशक देवेन्द्र राज मानते हैं कि संवाद की शुरुआत किसी दूसरे पात्र के साथ होती है, लेकिन यहाँ उसकी उपस्थिति का कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि न जाने कब यह संवाद मात्र स्व-केन्द्रित होकर रह जाता है।

कहानी और नाटक को लेखक और निर्देशक के वक्तव्यों के समान आमन-सामने रख कर पढ़ने से विधा का संरचनात्मक रूपांतरण स्पष्ट

होता है। 'धूप का एक टुकड़ा' कहानी में जहाँ- "क्या मैं इस बेंच पर बैठ सकती हूँ?"[7] आता है वहीं नाटक इसके पूर्व मंच की पूरी सीमा और अंतरिक योजना का वर्णन करता है। अगली ही पंक्ति में फिर परिवर्तन आता है। कहानी में जहाँ संवाद है वहीं नाटक इसे फिर स्पष्ट करने के लिए रंगसंकेत देता है कि नाटक में भी वहीं संवाद जस के तस बने रहते हैं-

"नहीं, आप उठिए नहीं - मेरे लिए यह कोना ही काफी है।"[8]

"(बूढ़ा उठने लगता है लेकिन वह तेजी से बेंच के खाली कोने पर बैठ जाती है ...)"[9]

निर्मला वर्मा सही नजर आते है। कहानी में शब्द स्वयं एक्ट हैं जबकि नाटक में आकर उनकी मंचीय रंगकर्मी भूमिका को रंगसंकेत देने पड़ते हैं।

प्रथम अनुच्छेद समाप्त होने के बाद फिर वही दोहराव आता है। कहानी जहाँ वाक्य-दर-वाक्य कहती जाती है - ऐक्ट करती जाती है वहीं नाटक में शब्दों के रंगसंकेत दिए जाते है-

"आप उधर देख रहे हैं - घोड़ा-गाड़ी की तरफ?"[10]

"(पृष्ठभूमि में एक घोड़ा-गाड़ी के आने और रुकने की आवाज़। बूढ़ा मंच के पिछले हिस्से की ओर चला जाता है।)"[11]

यदि नाटक से कहानी को छान लिया जाए तो जो रह जाएगा, वे रंगसंकेत होंगे। मंचन में रंगसंकेत नाटक के आरंभ होते ही आरंभ हो जाते हैं भले ही संवाद बाद में आरम्भ हो। इसका कारण यह है कि रंगसंकेत मंच के लिए होते हैं। जयशंकर प्रसाद अपने प्रसिद्ध निबंध 'रंगमंच' में काव्य या लिखित नाटक की प्राथमिकता घोषित करते है- "काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंग-मंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जायेगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है।"[12] किन्तु क्या कहानी और रंगसंकेत (मंच) के मिलने से लिखित नाटक का अस्तित्व प्रकार्यात्मक हो जाता

है?

'तीन एकांत' के लिखित रूप में कहानी 'धूप का एक टुकड़ा' जहाँ मोनोलॉग के अंतिम वाक्य में समाप्त हो जाती है किन्तु रंगसंकेत शेष रह जाता है वहीं कहानी में अंतिम वाक्य ही अंतिम ऐक्ट बन जाता है।

ऐसा नहीं है कि रंगसंकेत के शब्द ऐक्टविहीन हैं। उनके भी अपने मनमाने ऐक्ट हो सकते हैं। निर्देशक देवेन्द्र राज के वक्तव्य को देखें तो पता चलता है कि "चर्च का अहसास केवल वहाँ से आते संगीत द्वारा कराया गया।"[13] कुछ इसी प्रकार के प्रयोग दूसरी स्रोत कहानी 'डेढ़ इंच ऊपर' में हुए उसे नाटक बनाने में रंगसंकेत जोड़ दिए गए। निर्देशक देवेन्द्र राज लिखते हैं कि "कहानी का बूढ़ा पात्र बीयर पीते हुए स्वयं खुलता चलता है। बीच-बीच में उसे बीयर 'सर्व' करने के लिए एक बेयरा को रखा गया था जो उसकी आवाज़ पर जब-जब बीयर का मग रखने आता तो अनायास ही कहानी के दृश्य को पुनः पब से जोड़ देता।"[14]

इस तरह कथ्य कहीं नहीं बदलता बल्कि कहानी अपनी पूरी शक्ति से प्रस्तुत होती है क्योंकि "नाट्य-मंचन में कहानी का टेक्स्ट उतना ही महत्वपूर्ण है जितना स्वयं नाट्य-कृति का टेक्स्ट होता है - उसमें दृश्य और शब्द दोनों महत्वपूर्ण हैं, अन्योन्याश्रित हैं। मंच की रोशनी में दोनों ही एक-दूसरे को उजागर करते हैं।"[15]

शब्द- "मेरा घर ज्यादा दूर नहीं है और मैं पीने की अपनी सीमा जानता हूँ। मैंने आपसे कहा था न ... सिर्फ डेढ़ इंच ऊपर"[16]

दृश्य- "(अनुपस्थित पात्र के साथ-साथ बाहर निकल जाता है। संगीत के साथ ही सारा आलोक अंधेरे में डूब जाता है।)"[17]

तीसरी कहानी 'वीकएंड' सबसे अधिक प्रयोगधर्मी कहानी है इसमें सर्वाधिक परिवर्तन किए गए हैं। शायद इतने कि कहानी और नाटक अपनी भाषा-शैली और घटना-चयन की एकरूपता में अलग दिखाई पड़ते हैं। नाटक की शुरुआत सुबह 'टेपरिकोर्ड' पर आती आवाज से की गई है तो कहानी गतिविधि के वर्णन में आरंभ होती है।

"यह मैं याद रखूँगी, ये चिनार के पेड़, यह सुबह का भूरा आलोक....."[18]

"उसने लिहाफ उठाया- और तब उसका चेहरा बाहर आया....."[19]

कहानी में इसके बाद लिखा है ".... उसने सोचा।" किन्तु नाटक में यह नहीं है। नाटक कहानी से उन वाक्यों को एक क्रम में स्वीकार करता गया जो मानोलॉग की प्रवृति में स्वीकृत हो सकें, शेष सभी को छोड़ता रहा क्योंकि वहाँ गतिशील वर्णन हैं, जो कहानी में अपने रंग संकेत हैं। इससे पृथक नाटक ने अपने अलग रंगसंकेत बनाए है।

मोनोलॉग की शर्त के कारण सर्वनामों में बदलाव आ गए हैं, जैसे-

"ये हमारे दिन थे जब मैं बाहर जाती, लोग समझते थे, मैं काफी अकेली हूँ।"[20]

"ये उनके दिन थे जब वह बाहर जाती थी, लोग समझते थे, वह काफी अकेली है।"[21]

सर्वनाम के बदलावों के साथ वाक्य चयन में भी कुछ शब्दों का लोप कर दिया गया, जैसे-

"दूर पवेलियन की खाली बेंचे थी।"[22]

"घास पर, दूर पवेलियन की खाली बेंचे थी।"[23]

कहानी में तीन पात्र और तीन स्थितियाँ हैं किंतु पात्रों में सिर्फ नायिका ही मोनोलॉग का आधार है। रंगसंकेतों में तीनों पात्रों और स्थितियों को स्वीकारा गया है। नायिका उच्चारण के उतार-चढ़ाव द्वारा अन्य के होने का अनुभव देती है।

यह एक संयोग ही है कि नाटक और कहानी का अंत समान है इसमें कोई अंतर नहीं, यदि अंतर है तो 'मैं' और 'वह' का है। किन्तु इन परिवर्तनों से प्रभाव क्षमता में कमी नहीं आई है। निर्देशक ने अपने समक्ष लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहा भी है- "मुझे कहानियों के 'नाटकीय-रूपांतरण' की ओर नहीं बढ़ना वरन् कहानी के अपने मूल 'फार्म' में निहित कथ्य, शब्द और दृश्य को ही मंच पर स्थापित करना है।"[24]

निष्कर्षतः यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की जा सकती है कि "हर माध्यम के पास दूसरे माध्यम को देने के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य रहता है।"[25] निर्मल वर्मा की तीन कहानियों की मंचीय प्रस्तुति हिंदी साहित्य जगत में नए मार्गो को खोलती है जहाँ विधाएं एक दूसरे के भीतर से गुजर सकती है।

संदर्भ

1. निर्मल वर्मा, तीन एकांत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 27
2. वही, पृष्ठ 12
3. वही, पृष्ठ 13
4. वही, पृष्ठ 22
5. वही, पृष्ठ 14
6. वही, पृष्ठ 18
7. निर्मल वर्मा, कव्वे और काला पानी, पृष्ठ 11
8. वही, पृष्ठ 11
9. निर्मल वर्मा, तीन एकांत, पृष्ठ 27
10. निर्मल वर्मा, कव्वे और काला पानी, पृष्ठ 12
11. निर्मल वर्मा, तीन एकांत, पृष्ठ 28
12. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निंबध, पृष्ठ 65
13. निर्मल वर्मा, तीन एकांत, पृष्ठ 19
14. वही, पृष्ठ 20
15. वही, पृष्ठ 13
16. निर्मल वर्मा, पिछली गर्मियों में, पृष्ठ 53
17. निर्मल वर्मा, तीन एकांत, पृष्ठ 57
18. वही, पृष्ठ 61
19. निर्मल वर्मा, बीच बहस में, पृष्ठ 35
20. निर्मल वर्मा, एकांत, पृष्ठ 63
21. निर्मल वर्मा, बीच बहस में, पृष्ठ 37
22. निर्मल वर्मा, तीन एकांत, पृष्ठ 64
23. निर्मल वर्मा, बीच बहस में, पृष्ठ 38
24. निर्मल वर्मा, तीन एकांत, पृष्ठ 17
25. रंग प्रसंग (पत्रिका), प्रयाग शुक्ल (संपादक), जनवरी-मार्च, 2006 (अंक-1) पृष्ठ-1

लेखकों का परिचय

- रंजन पाण्डेय, शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
- सोहन कुमार, शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
- अभिषेक कुमार, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
- आरती झा, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, पंडित शम्भूनाथ शुक्ल स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शहडोल (म.प्र.)
- बीरेन्द्र सिंह, शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
- रविराज पटेल, संस्कृतिकर्मी एवं कला समीक्षक
- अनिल कुमार यादव, शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
- कुमार गौरव मिश्रा, शोधार्थी, नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग, महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
- पूनम मोहनानी, शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दयालबाल शिक्षण संस्थान, आगरा
- लहरी राम मीणा, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, श्यामा प्रसाद मुखर्जी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
- रोहित कुमार, शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय